सहजानंद शास्त्रमाला

शांतिभक्ति प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 002

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'शांतिभक्ति प्रवचन'**अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर** एवं प्रूफ चेक करने में विधानाचार्य पंडित **श्री पदमकुमारजी गंगवाल, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Contents

प्रकाशकीय ..... - 2 -

आत्मकीर्तन ..... - 3 -

आत्म रमण ..... - 4 -

श्लोक 1 1

श्लोक 2 20

श्लोक 3 27

श्लोक 4 34

श्लोक 5 40

श्लोक 6 46

श्लोक 7 52

श्लोक 8 59

श्लोक 9 65

श्लोक 10 72

श्लोक 11 73

श्लोक 12 75

श्लोक 13 77

श्लोक 14 79

श्लोक 15 87

श्लोक 16 93

श्लोक 17 98

शांतिभक्ति प्रवचन

प्रवक्ता-अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

श्लोक 1

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजाः ।

हेतुस्तत्र विचित्रदु:खनिचयः संसारघोराणवः ।।

अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिकिरणव्याकीर्णभूमण्डलो ।

ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः ।।१।।

(१) दु:खपीड़ित प्राणियों की प्रकृति--दु:खों से पीड़ित प्राणियों की प्रकृति ऐसी है कि वे किसी की शरण में जाया करें जैसे व्यवहार में जब किसी विषयजन्य पीड़ा होती है तो उसका ऐसा यत्न होता है कि वह विषयसाधनों की शरण में जाय। जब रसीले भोजन की आकांक्षा होती है तो उस पीड़ा को बरदाश्त न करके यह मनुष्य रसीले स्वाद वाले भोजन के स्थान पर, दूकान पर अपनी शरण लेता है और वहां कुछ विश्राम सा अनुभव करता है या घर पर ही उन चीजों को बनवाकर चखकर अपने को विश्राम में अनुभव करता है। इसी प्रकार सभी विषयों की बात है। स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर यह पुरूष अपने उस विषयसाधन की शरण लेता है, इसी तरह घ्राण के विषय से पीड़ित होकर गंध की शरण में बाग में पहुँचता है, इतर वगैरह के साधन जुटाता है। चक्षु इन्द्रिय की जब विषय पीड़ा हुई तो रूप अवलोकन के लिए दौड़ता फिरता है। सिनेमाघरों में जहां इष्ट रूप मिले वहाँ जाय रूपावलोकन के लिए दौड़ता है और विषयसाधन मिलने पर विश्राम सा अनुभव करता है। यों विषयसाधन की शरण लेता है। कर्ण इन्द्रिय का विषय हुआ तो राग रागिनी के साधनों की शरण लेता है, उनके गाने वालों की संगति में जाता है। जब मन का विषय प्रबल होता है तो जहां मनोरथ सिद्द हो उन-उन यत्नों को गहता है और उनकी शरण लेता है।

(२) विषयसाधनों की शरण से अशान्ति की वृद्धि--यह जीव की प्रकृति है कि जब दु:ख आये तो दु:ख निवृत्ति के लिए वह किसी की शरण गहता है किन्तु यह पता नहीं कि हम पर वास्तव में दु:ख क्या लदा हुआ है ? जो लोकव्यवहार में दु:ख बताये गए है वे तो दु:ख हैं इसका तो सबको अनुभव है उन दु:खों

को मेटने के लिए किसकी शरण गहना चाहिये यह निर्णय ठीक नहीं किया। उनके अतिरिक्त और भी दु:ख हैं और समस्त दु:खों में सरताज दु:ख है अज्ञानपरिणाम, जिसका विस्तार है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र जिनमें सब प्रकार के दु:ख गर्भित हो गए। यह जीव अनादिकाल से अज्ञानभाव से पीड़ित है। इसको अब तक चैन नहीं मिली। किसी विषय का दु:ख हो उसको मेटने के लिए विषयसेवन का इलाज समझा पर तृप्ति तो वहां होती ही नहीं। जैसे समुद्र की तृप्ति नदियों के जल से नहीं होती। क्या समुद्र कभी मना करेगा कि मैं अब पूरा भर गया, हे नदियों ! तुम अब मुझमें मत गिरो अथवा जैसे अग्नि की तृप्ति ईंधन से नहीं होती क्या अग्नि मना करेगी कि ऐ ईंधन तुम अब मुझ में मत आवो मैं तृप्त हो गया। अरे अग्नि को तो जितना ही ईंधन मिलता जायगा उतनी ही अग्नि बढ़ेगी। सारा का सारा ईंधन आ जाय फिर भी अग्नि का पेट नहीं भरता । इसी तरह इन अज्ञानी प्राणियों को विषयसाधनों में कहां तृप्ति हो सकेगी ? कभी न हो सकेगी। तो मिथ्यात्व एक महान विपदा जीवों पर मंडराई हुई है और उसी से जितना ज्ञान बन रहा है वह मिथ्याज्ञान बन रहा है। कभी ऊँचा भी ज्ञान हो तो उस ज्ञान का उपयोग विषयप्रवृत्ति के लिए होगा। कुछ साहित्यिक, शारीरिक अथवा बोलने आदि की क्रियायें सीख ली गईं तो उनका उपयोग इस ढंग से करेंगे जिससे इन छहों विषयों की पूर्ति हो।

(३) मिथ्यात्व के योग में ज्ञान की भी विडम्बना--मिथ्यात्व के साथ यह अच्छा ज्ञान भी मिथ्याज्ञान बन गया। भगवान ऋषभदेव के पूर्व जन्मों से सम्बंधित किसी जीव की एक कथा है कि एक अरविन्द नाम का राजा था। उसे ज्वर बहुत तेज हो गया। एक बार वह ज्वर में पड़ा हुआ था कि ऊपर दो छिपकलियाँ लड़ गईं और एक छिपकली की पूछ टूट गई। तो खून के दो-चार छींटे उस राजा के शरीर पर गिर गए। राजा को उससे बड़ी चैन मिली। तो राजा ने अपने दोनों बालकों को आज्ञा दी , कि ऐ बालकों! मेरे लिए एक खून की बावड़ी भर दो मैं उसमें स्नान करके आराम पाऊगाँ। वे दोनों बालक बहुत घबड़ा गए। वे दोनों धार्मिक प्रकृति के थे। लेकिन पिता की आज्ञा थी अब उसको कैसे टाला जाय । पर उन बालकों ने पूछा कि पिताजी इतना खून कहां से लाया जाय ? अरविन्द ने कहा कि अमुक जंगल में जावो वहां बहुत से हिरण हैं उनको मारकर उनका खून लावो और बावड़ी भरो । वे बालक उस जंगल में गए। जंगल में चलते-चलते एक जगह मुनिराज मिले। मुनिराज के दर्शन, पूजन, वंदन आदि करके वे बालक उदास होकर बैठ गए तो मुनिराज ने स्वयं ही कहा कि ऐ बालकों ! तुम उदास क्यों होते हो ? तुम्हारे बाप का भवितव्य खोटा है उसे तो नरक जाना है। उसकी आज्ञा पाकर तुम प्राणियों का वध क्यों करने आये हो ? मुनिराज की बातों का उन बालकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सोचा ओह ! यह तो बिना मेरे कहे ही सारी बात जान गए । वे बालक बोले-महाराज इस समय हम बड़े दु:खी है लेकिन पिता की आज्ञा है उसे हम कैसे टालें ? तो

मुनिराज बोले-देखो पिता की आज्ञा वही मानी जाने योग्य है जो न्याय नीति से सम्बन्ध रखती हो। तुम्हारे पिता का तो भाग्य ही खोटा है। तो महाराज ! उन्होंने कैसे बता दिया कि अमुक जंगल में पशु मिलेंगें सो उनको मारकर लावो ? हमारा पिता तो ज्ञानी है। मुनिराज बोले -हाँ ज्ञान है मगर उसको कुअवधिज्ञान है। बालकों ने कहा-हम कैसे समझे कि हमारे पिता को कुअवधिज्ञान है? अच्छा जावो लौटकर और अपने पिता से पूछो कि उस जंगल में और क्या-क्या है ?जो उत्तर कह दें उसे सुनकर हमारे पास आना। वे बालक गए और पिताजी !जिस जंगल में आपने हमें भेजा था वँहा और क्या-क्या है ? तो बाघ, चीता, शेर, हिरण, खरगोश आदिक पशुवों के नाम बता दिये।

और कोई भी है क्या वहाँ ? हां वनगायें भी मिलेगी। यों और-और पशुओं के नाम लेते गए। पिता का उत्तर सुनकर वे दोनों बालक उसी जंगल में मुनिराज के पास आये और पिता द्वारा दिये गए उत्तर को सुनाया तो मुनिराज बोले-देखो उसने पशुवों के नाम तो गिना दिये पर यह नहीं बता सका कि वहाँ पर अनेक मुनिराज भी तपश्चरण कर रहे है। तो उसका खोटा ज्ञान है। उसकी खोटी श्रद्धा है। अब उन बालकों ने पशुवों को तो न मारा किन्तु लाख के रंग से बावड़ी भर दी। (लाख का रंग भी खून जैसा मालूम होता है) । जब पिता ने उस बावड़ी में स्नान किया तो उसके स्वाद से ही पहिचान लिया कि यह खून नहीं बल्कि लाख का रंग हैं मुझे धोखा दिया गया है। तो राजा को क्रोध उमड़ आया और उन बालकों को मारने के लिए नंगी कटारी लेकर दौड़ा। वे बालक भगे। कुछ दूर जाकर राजा को ठोकर लगी। गिर गया और उसकी ही कटारी उसके पेट में समा गयी। वहीं उसका मरण हो गया। मरकर नरक गया । तो जब मिथ्या श्रद्धा होती है तो जितने भी ज्ञान होते है वे सब मिथ्या ज्ञान के रूप में परिणत हो जाते है।

(४) मानवों द्वारा बुद्धि का दुरुपयोग--मनुष्यों में आज-कल क्या कम ज्ञान है, मगर धर्म करने के लिए ये मनुष्य इस तरह से कंधा डाले हुए है जिस तरह गाड़ी में जुते हुए बैल कंधा डाल देते हैं। जिस बुद्धि में इतनी ताकत है कि वर्षों के बड़े ऊँचे-ऊँचे हिसाब लगा लें। देखो भारतीय रेलवे के कितने हिस्से है-- उत्तर रेलवे, पूर्व रेलवे, पूर्वपश्चिम रेलवे, दक्षिण पश्चिम रेलवे ,पूर्वोत्तर रेलवे आदि। इनका कहीं भी किसी जगह का टिकट ले लो इसकी सारी व्यवस्थायें है कौन-कौन से डिब्बे कहा जायेंगे इसकी सारी व्यवस्थायें है। इन सबका बिल्कुल ठीक हिसाब-किताब ये मनुष्य रखे हुए हैं जैसे इस टिकट से इन-इन प्रान्तों की रेल में सफर किया दाम सब बट जावेंगें। यों सर्व प्रकार की व्यवस्थायें करने अनेक प्रकार के आविष्कार आदि करने की बुद्धि जिस मनुष्य में है क्या वह मनुष्य अपने आत्मस्वरूप को जानना चाहे तो जान नहीं सकता ? अवश्य जान सकता है। लेकिन इन मनुष्यों को जब मिथ्याज्ञान हो रहा है, परपदार्थो की ओर आकर्षण

हो रहा है तब फिर आत्मस्वरूप की बात इन्हें कैसे सुहा सकती है ? उसकी जानकारी करने की उनके पास फुरसत ही नहीं है। लेकिन उन्हें यह जानकारी अवश्य रखनी चाहिए कि जिन चीजों में ये प्राणी लग रहे हैं, जिनमें अपनी चतुराई समझ रहे है, बड़ा मौज मान रहे हैं वे सब धोखा हैं विपत्ति के जाल हैं। वे कोई अपने शरण नहीं हैं। अपना शरण तो अपना ही आत्मस्वरूप है। अपना ही भगवत्स्वरूप हैं। तो यह प्राणी मिथ्या श्रद्धान करके जन्म-जन्मान्तरों के देहों का धारण कर-करके दु:खी हुआ। प्रभु की तरह शुद्ध सहज निरञ्जन ज्ञानान्दस्वरूपी होकर भी यह जीव नरक निगोद, पशु-पक्षी, कीट-पतिंगा आदिक खोटी योनियों में देह धारण करता है और दुरूह क्लेश भोगता है।

(५)क्लेशपूर्ण जगत में श्रावकों का कर्त्तव्य--संसार के भयावह दु:खों से पीड़ित पुरूष किस जगह जायें कि उनको कुछ शरण मिले विश्राम मिले ? जरा लोक में ऐसी जगह खोजिये तो सही। अधिक वैभव बढ़ा लिया गया तो क्या आत्मा को शरण मिल जायगा ? वैभव वालों की दशा भी देख लो। वैभव भी मिला, जीवनभर वैभव के लिए दु:खी भी हुए अन्त में फल क्या मिलता है ? सम्यग्ज्ञान नहीं है तो जिन्दगी भर दु:खी रहना पड़ेगा और मरण के समय भी बड़ा कष्ट मिलेगा। तो ऐसे क्लेश और संक्लेश भोगने का परिणाम क्या है ? दुर्गतियों में देह धारण करना । संसार में सर्वत्र दु:ख ही दु:ख छाये है सुख का कहीं रंच नाम नहीं है। विषयों में यह जीव सुख समझता है लेकिन विषयों में सुख है कहाँ ? बल्कि आत्मा की बरबादी है। आत्मा के स्वभाव की दृष्टि नहीं सो बाह्य पदार्थो को ही सर्वस्व मानकर उनके ही आकर्षण में व्यग्र रहकर यह जीव अपनी ही बरबादी करता है। इन परिग्रहों को जिन्हें लोग लक्ष्मी कहकर पुकारते हैं यह तो इस जीव के लिए विपदा है। हिम्मत तो ऐसी करना चाहिए कि अगर हम गृहस्थ में हैं तो हमारा कर्तव्य है कि नियत समय पर धनार्जन का भी ध्यान रखें सो वहाँ परिजनों के पुण्योदय के माफिक धन आयगा। जिनको धन भोगना है उनका उदय भी उसमें काम कर रहा है तो जो धन आये आने दो उसमें हम और ज्यादा कर ही क्या सकते है ? अब जो भी आया हो उसमें अपना विभाग बना लें कि हमें तो इतने में ही गुजारा करना है अधिक धन आये तो अधिक गुज़ारे की बात न सोचे । मध्यम वर्ग के लोगों जैसा गुज़ारे का बजट रखें। धन अगर छप्पर फाड़कर मनमाना अधिक आता है तो आने दो उसका सदुपयोग यह नहीं है कि अपने विषयों के आराम मौज, शोक, श्रृंगार आदिक में लगाये। उस धन से अपना रहन-सहन तो मध्यम वर्ग के लोगों की तरह रखें और शेष धन का व्यय दीन-दुखियों के उपकार में व धार्मिक कार्या में लगायें। जब सरकार की ओर से आजीविका का समय भी नियत है तो उतने समय तक प्रयत्न करके धनार्जन के काम को शेष समय में तथा उस धनार्जन के समय भी आत्महित करने की बात ध्यान में रखें । हर स्थितियों में यह तो ध्यान रखना ही चाहिए कि हम जिन कामों में फँसे हुए हैं वे

काम हमारे लिए कारणभूत नहीं है। मैं आत्मा तो एक सत् पदार्थ हूँ केवल इतना ही मात्र नहीं हूँ कि जितना इस नर देह में हूँ। इससे पहिले भी था इसके बाद भी रहूंगा।

(६) इस जीवन में भी अन्तस्तत्व की बात में शान्ति की प्रतीति--कोई पुरूष यदि इस बात पर विश्वास न करे कि मैं इससे पहिले भी था और बाद में भी रहूंगा उन पुरूषोंसे यह कहता है कि उन्हें इतना विश्वास तो है ही कि जब तक यह जीवन है तब तक तो मैं कुछ हूँ। तो जाने दो आगे पीछे की बात इस ही ४०-६० वर्ष के जीवन में ऐसा कौनसा करने का काम है जिससे शान्ति व सुख की प्राप्ति हो सकती है ? खूब खोज करके देख लो। व्यग्र हो रहे है सभी लोग। बाह्य को सुख का साधन माना है पर बाह्य पर अपना अधिकार है नहीं। चाहते है हम बाह्य पदार्थो को अपनी इच्छा के अनुसार रखना पर उन परपदार्थो का परिणमन हमारी इच्छा के अनुसार होता नहीं तो दु:खी होना तो स्वाभाविक ही है। हम चाहते है कि इतने धन की प्राप्ति हो जाय और उतने धन की प्राप्ति होती है नहीं तो हम दु:खी होते है इसके अलावा भी कितनी कितनी प्रकार के झगड़ा झंझट लगे हैं। कही पुत्र प्रतिकूल हो गया, कहीं भाई प्रतिकूल हो गया, कहीं पड़ोसी प्रतिकूल हो गए, कहीं कई-कई पार्टियाँ बन रही हैं एक दूसरे की जान लेने पर तुले हुए हैं। यों कितने ही प्रकार के झंझट हैं। तो इस ही जीवन की शान्ति की बात तो सोच लो। और कोई यह कल्पना करे कि आत्मा और आत्मा के स्वरूप की बात यह तो सब झूठ है तो झूठ ही सही पर थोड़ा इस ओर बात तो करो । कुछ चर्चा तो करो कुछ इस पर दृष्टि तो दो। आधी-आधी कुछ बात सही भी लगेगी और उसकी चर्चा में उसकी ओर उपयोग लगाने में संदिग्ध पुरूष भी यह अनुभव करने लगेगा कि ओह ! शान्ति जितनी इस ओर मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं। इसकी चर्चा से भी प्राप्त होती है शान्ति । बाह्य पदार्थो के आकर्षण में तो शान्ति का लेशमात्र भी लाभ नहीं।

(७) शरण का अन्वेषण--खूब खोज डालो लोक में ढूंढ-ढूंढ करके - मुझ दु:खिया के लिए शरणभूत कौन है जिसकी शरण गहें और शान्ति पायें? शरण गहने का नमूना क्या है ? यह बात तो छोटे-छोटे बच्चों से सीख लो। कोई दो-तीन वर्ष का बच्चा जब कोई अपने पर उपद्रव आता हुआ देखता है-जैसे कोई उसे जबरदस्ती पकड़ना चाहे मारना चाहे परेशान करे आदि तो वह बच्चा झट अपनी माता या पिताजी की गोद में पहुंचकर अपने में निर्भयता का अनुभव करता है ओर इस गोद में पहुंचने में ही वह अपना सारा शरण समझता है। तो इसी तरह से ये संसार के प्राणी अनेक दु:खों से पीड़ित है ये किसका शरण गहे किसे अपना सर्वस्व समर्पण करें कि जिससे इनकी सारी व्यथायें दूर हों ? उस सार शरण तत्त्व की चर्चा आगे की जावेगी।

(८)संसार की भयावहता--संसार इतना भयावह है, इतना दु:खमय है कि हज़ारों जिह्वा वाला मुख भी उन दु:खों का वर्णन नहीं कर सकता। लेकिन वे सारे दु:ख है कहां ? वे दु:ख हैं सबकी अपनी-अपनी भीतर की कल्पना में। दु:ख की सारी समस्यायें यहाँ हल होती हैं। किसी भी प्राणी को क्या है दु:ख ? विशेष करके मनुष्यों की बात कही जा रही है। वह दु:ख है अज्ञान, मोह ,यही अज्ञानता सर्व दु:खों का कारण है। कभी वैभव में कुछ टोटा आ गया, कुछ कमी आ गयी।पुण्य से बढ़कर वैभव तो पास में न रहेगा, वह तो किसी न किसी बहाने खतम होगा ही। तो उस समय यह मोही प्राणी क्लेश मानता है - हाय! यह गया, यह मिटा। अरे क्लेश क्या मानते हो? तुम्हारा था ही क्या ? तुम तो केवल अपने आत्मा के ज्ञेय मात्र हो। जितने में तुम हो, जितना पिण्ड है, प्रदेश है, रह रहे हो, बस तुम तो उतने ही हो, तुम्हारा घर इतना ही है और उस घर में जो बात पड़ी हो वही तुम्हारी है, बाहर में तुम्हारा है क्या ? पर अज्ञान लगा हुआ है, उस धन को अपना रखा है तो उसका कुछ भी वियोग हो, कुछ भी टोटा हो तो उसमें दु:खी होता है। तो समझिये कि हम सब संसारी प्राणी दु:खी तो हो रहे हैं, मगर बिना बात के दु:खी हो रहे हैं। कुछ बात भी हो सो नहीं, और दु:ख इतना बढ़ा रखा है कि बड़ा भारी बोझ और बहुत बड़ी विडम्बना रूप बन गया है। और बात कितनी है ? मायारूप बात। कुछ पिण्डरूप हो, तत्वरूप हो, साररूप हो, तब तो बताया जाय कि इस बात पर हम दु:खी हो रहे। केवल एक कल्पना पर दु:खी हो रहे, यों कह लीजिये। भीतर आज ही ज्ञानप्रकाश जगे और यह साफ-साफ ज्ञात हो जाय बात कि मेरा मात्र मैं ही हूँ, मेरा मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो जाय, यह सारी बात चित्त में आ जाय तो इसका सारा बोझ अभी हट जायगा। क्लेश रंच भी नहीं है।

(९) बाह्य समागम की चिन्ता न करके आत्महित करने के यत्न की आवश्यकता–भैया ! बाह्य परिग्रहों की इतनी चिन्ता क्यों ? कोई जीव किसी करोड़पति के घर जन्म लेता है, जन्म लेते ही उसने क्या हाथ-पैर पीटा जो वह बच्चा भी करोड़पति कहलाने लगा ? उसने कौनसी कला की, बताओ ? तो कमाई का श्रम करने से धन जुड़ता है यह बिल्कुल भ्रम की बात हैं। धन का तो पुण्योदय से अविनाभाव है लोगों के श्रम से नहीं। लेकिन ज्ञानी पुरूष इस पर भी दृष्टि नहीं देता कि पुण्योदय पर निर्भर है सम्पदा, पुण्य करना चाहिये। ओ वह तो पुण्य को भी, सम्पदा को भी धूलवत् समझता है। तो आत्मा का पूरा कहां पड़ेगा किसी सम्पदा से ? ऐसा दुर्लभ नरजीवन पाकर अगर आत्म कल्याण की बात न जगायी तो बताओ, फिर कब अवसर मिलेगा कि हम आत्मकल्याण की बात में लगने का उपाय बना सकेंगे। मरकर अगर कीड़ा मकोड़ा हो गए, फिर क्या कर लोगे ? कोई हित का साधन बना लोगे क्या ? यहां के ये स्त्री ,पुत्र, मित्रादिक कुछ

भी मददगार न होंगे। ये सब खुद स्वार्थी है। सारा संसार धोखे से ही भरा हुआ है। यहां किसी की शरण न पावोगे, सब जगह से ठोकरें ही लगेगीं।

(१०) स्वयं की भावना से स्वयं की उलझ-सुलझ--भैया ! दूसरा कोई ठोकर नहीं मारता, आघात नहीं करता, लेकिन वहाँ कल्पना से ही शरण गहते, कल्पना से ही ठोकर लगती ओर कल्पना से ही दु:खी होते हैं। जैसे हवा के निमित्त से ध्वजा स्वयं ही उलझती है ओर स्वयं ही सुलझती है, ऐसे ही ये संसारी प्राणी बाह्य पदार्थो का आश्रय लेकर स्वयं ही उनके प्रति अपनी कल्पनायें बनाते है और स्वयं ही दु:खी होते हैं। कहाँ बाहर में शरण मान रहे हो ? क्यों ऐसी टेक बनायी है कि धनसंचय के लिए, परिवार को सुखी करने के लिए, रिशतेदारों को सुखी रखने के लिए , परिजनों में अपने को, अच्छा कहलवाने के लिए तो २४ घंटे लगाये जाते है और अपने हित के लिए , कल्याणमार्ग में लगने के लिए कितना ? जिससे कि संसार के संकट सदा के लिए समाप्त हो जाये, जैसा कि परमात्मा ने किया था। वे भी संसारी थे, वे भी मनुष्य थे, उन्होने सम्यक्त्व प्राप्त किया, आत्महित में लगे, समस्त परद्रव्यों से उपेक्षा की, अपने को आकिंचन अनुभव किया, केवल ज्ञानानन्दमात्र, उससे ही लबालब भरा हुआ उन्होंने अपने आप को देखा और ऐसा देखने में ही तृप्त रहे, इसके प्रसाद से उन्हें परमात्मापद मिला है जिनकी भक्ति करने हम आप अपने हज़ारों रूपये खर्च करके अपने को धन्य समझते हैं, अपने परिजनों को उस धर्ममार्ग में लगाकर आप अपने को बड़ा कृतार्थ समझते हैं। वे परमात्मा, प्रभु किस उपाय से हुए उस उपाय में लगने की बात सोचियेगा। भैया ! ढूंढा शरण लोक में, कोई शरण न मिला । जिसको देखे वही दु:खी। जिन परिजनों की शरण गहते है वे परिजन स्वयं अशरण हैं, वे स्वयं हमारा आश्रय तक रहे हैं, उनकी हम क्या शरण गहें। पड़ोसियों के पास गए तो वे स्वयं स्वार्थ से भरे हुए हैं, वे अपने संकट मिटाने की बात देखेंगे कि हमारी ? तो किसकी शरण में जायें जिससे शान्ति प्राप्त हो सके।

(११) सत्य शरण का अन्वेषण--यहाँ लोक में तो कोई शरण न मिला, तब फिर अब चले कुछ अलौकिक पुरूषों की ओर। जो संसार के समस्त दु:खों से सदा के लिए छूट गए है। जिन दु:खों से भरे हुए ये प्राणी हैं, जिन दु:खों से भरा हुआ मैं हूँ, उन दु:खों से जो छूट गए हों, उन के निकट पहुंचेंगे, उनकी शरण गहेंगे, उनकी सुध भी लेंगे, उनके ध्यान में भी आयेंगे तो अपने आप में अपने आपकी शरण पा लेंगे। तो लोक में बाहर में शरण गहने की बात तो बहुत की, लेकिन अब सच्चे शरण की बात बना लीजिए इस नरजीवन में। यह मानवजीवन यों ही बार-बार नहीं मिल जाता, बड़ी कठिनाई से मिलता है। जैसे गाड़ी में जो जुवा बैलों पर रखा जाता है उसमें चार या दो छेद होते हैं, जिनमें लकड़ी फंसा दी जाती है जिससे

कि बैल बाहर न जा सकें।उस जुवें को गाड़ी से अलग करके जुवें से लकड़ी निकाल ली जाय और किसी बड़ी नदी के एक कोने पर जुवा छोड़ा जाय व किसी दूसरे कोने पर वह लड़की छोड़ी जाय, कदाचित् वे दोनों बहते-बहते कभी एक जगह आ जावें और उसी छिद्र में वही लकड़ी आ जाय तो यह अति दुर्लभ बात है, ठीक इसी तरह इस मानव जीवन का पाना भी अति दुर्लभ है। यह मानव जीवन कोई आसानी से नहीं मिल जाता। इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ के कार्यो में न खोइये, विषयों से दूर रहिये परिग्रह के कीचड़ में मत फंसिये। ये सब इस जीव को भव भव में भटकाने वाली, रूलाने वाली चीजें हैं। तो यहाँ अन्य किसी को अपना शरण न समझें। बाह्य में हम आपको कोई शरण न मिलेगा। शरण मिलेगा तो वहीं, जो इन झंझटों से छूट गए हैं और इन झंझटों से छूटने का जो मार्ग बता रहे हैं। अब उनकी ही शरण में चलने को हम आप अपना ध्यान बनायें।

(१२) भक्ति की पद्धति--हम आप संसारी प्राणियों को इस लोक में यदि कुछ शरण है तो परमात्मा की भक्ति शरण है। कभी सही ज्ञान भी हो जाय और व्रत तप संयम में भी प्रवृत्ति अच्छी रहे, इतने पर भी जब तक परमात्मा में तीव्र भक्ति नहीं जगती है तब तक मोक्ष में किवाड़ जो बंद हैं उसकी अर्गला नहीं हटती। प्रभु भक्ति का इस जीवन में शुद्ध प्रभाव बढ़ाने के लिए बड़ा महत्व है। जितनी आसक्ति और तीव्रता से परिजनों की भक्ति की है अब तक, उस वेग से प्रभुभक्ति यदि करते तो विश्व संकट कभी का समाप्त हो जाता। भक्ति का अर्थ है जिनकी भक्ति की जा रही है उन्हें अपना शरण समझना और उनसे ही अपना हित समझना, और उनके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित करना। इस ही का नाम तो भक्ति है। केवल सिर नवा देना और हाथ जोड़ लेना, थोड़ी स्तुति पढ़ लेना यह भक्ति नहीं है। भक्ति तो असल में प्राय: लोग अपने परिवार की करते हैं। भगवान की भक्ति तो झूठ-मूठ की जा रही है। भक्ति में अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया जाता है। सब कुछ मेरे यहीं हैं, इनके बिना मैं सूना हूँ, इस प्रकार का भाव भक्ति में भरा हुआ है और उनकी सेवा-सुश्रूषा करके अपने को बड़ा भाग्यशाली समझते हैं। भक्ति के इतने चिन्ह हैं। अब आप बतलावो कितने मनुष्य इन चिन्हों से सहित प्रभु की भक्ति करते हैं और कितने मनुष्य इन चिन्हों से सहित अपने स्त्री पुत्रादि परिजनों की सेवा करते हैं। भक्ति तो भक्ति ही कहलाती है। तो जैसी लगन के साथ लोग कुटुम्ब की भक्ति कर रहे हैं वैसी लगन के साथ, धुन के साथ अपना सर्वस्व मानकर, अपना शरण मानकर प्रभु की शक्ति की भक्ति करें तो समझिये कि भक्ति वह है।

(१३) भक्तिपरीक्षा--देखो भैया! झूंठी और सांची भक्ति की परीक्षा भी तो कई जगह हो ही जाती है। जो लौकिक थियेटर होते है जैसे एक पहिले लैला मजनू का ही थियेटर चलता था। तो लैला की प्राप्ति के

लिए अनेक लोग मजनू बन गए थे। औरमजनू को यह छुट्टी दे दी थी राजा ने कि जिस चाहे दूकान पर खाये, और उसका जो बिल हो वह राजकोष से लिया जाये। तब तो अनेक लोग मजनू बन गए। तो परीक्षा हुई। किस तरह कि मानो एक बड़े खम्भे पर ऊँचे लैला को बैठा दिया नीचे थोड़ी थोड़ी जगह में आग लगा दी, और सभी मजनूवों को बुलाया परीक्षा करने के लिए, उनमें से जितने सारे बनावटी मजनू थे वे हिचक गए, और जो असली मजनू था वह आग को पार करके लैला के पास पहुंच गया। यह दृष्टान्त लगन का वेग बताने के लिये कहा है। इनमें हमें और कुछ ग्रहण नहीं करना। यहाँ भक्ति के सम्बंध में कह रहे हैं। लोग भक्ति शब्द को बड़े पवित्र रुप में लेते है इसलिए यह दृष्टान्त इस जगह कुछ अनिष्ट सा जँचता है लेकिन इस दृष्टान्त से यह शिक्षा लें कि भक्ति का मूल अर्थ है सेवना। भक्ति का जो मूल अर्थ है उस पर दृष्टि दें तो यह विदित होगा कि हम लोग वैभव की, परिजन की, स्त्री-पुत्रादिक की भक्ति आन्तरिक ढंग से कर रहे हैं।

(१४)मोहियों की भक्ति में होड़--देखो कि बड़े-बड़े ज्ञानी योगी पुरूष बड़े-बड़े आरम्भ परिग्रहों को छोड़कर जंगल में जाकर प्रभु की भक्ति करते हैं। इसी तरह ये मोही पुरूष आत्मोन्नति का लाभ तजकर, सुगतियों का लाभ तजकर बड़े ऊँचे पवित्र लाभों पर भी लात मारकर स्त्री पुत्रादिक की सेवा करते हैं। यदि उन बड़े-बड़े चक्रवर्तियों का यह बड़ा बलिदान था कि छह खण्ड का वैभव छोड़कर, बहुत बड़े राज-पाट को भी तिलाञ्जलि देकर जंगल में पहुंचकर निर्ग्रन्थ भेष में प्रभु की सेवा में आसक्त हो गए तो यहां ये मोहीजन भविष्य में सुरसुन्दरियों सदृश सुन्दरियाँ प्राप्त होगी, उनका भी लगाव छोड़कर और आगे बहुत ऊँचे पद मिलेंगे, देव हो, इन्द्र हो, राजा हों, महाराज हों, चक्री हों, तीर्थंकर भी हो सकेगा ऐसे सारे उच्च पदों पर लात मारकर ये मोहीजन स्त्री-पुत्रादिक परिजनों में आसक्त हो रहे है। देख लो-इन मोहियों का बलिदान। उन विवेकियों ने साधुओ ने तो असार चीजों का त्याग किया, पर इन मोहियों ने तो इतना बड़ा बलिदान किया कि सार, शरण, धर्म, तप, व्रत, सम्यक्त्व आदिक सबका त्याग किया, एक स्त्री-पुत्रादिक परिजनों की भक्ति के लिये (हँसी) । तो अब देखिये-भक्ति की दौड़ किसकी किस तरफ हो रही है।

(१५) भक्तिपात्रता--अब इसमें यह खोज आप सबने कर ही ली होगी कि कौनसी वास्तविक भक्ति इस आत्मा को शरणभूत है ? जो संसार के समस्त दु:खों से छूट गए और जो इन समस्त दु:खों से छुटकारा पाने का उपाय उपदेश दे रहे हैं, ऐसे परमात्मा के स्वरूप का स्मरण करना, प्रभु की भक्ति करना, यही है शरण। ज्ञानी पुरूषों ने सब कुछ परखकर, कुछ विवेक जगाकर वास्तविक तथ्य समझ लिया कि मेरे आत्मा से बाहर के जितने भी विषय हैं इन्द्रिय के और मन के उन विषयों में लगाव रखना अपने जीवन

के क्षणों को बरबाद करना है । इस दुर्लभ जीवन के क्षणों का सदुपयोग यही है कि रूप, रस, गंध, स्पर्शसे, शब्दसे, लोकेषणा से, इन ६ विषयों से उपयोग मोड़कर आत्मस्वरूप, परमात्मस्वरूप शुद्ध अंतस्तत्व के निकट रहकर तृप्त रहना यह बात जितने क्षण बनती है समझ लीजिए कि मनुष्य जीवन के उतने क्षण सफल हैं और इस को छोड़कर बाकी जो गप्पों में समय जाता है, परिजनों की सेवा में समय जाता है, अन्य बाह्य बातों में समय जाता है वह समय व्यर्थ है। लेकिन जिस गृहस्थ को धुन है अपने अंतस्तत्व की, उसको इन असार व्यवहारों के बीच फंसने पर भी, पड़कर भी वह दृष्टि रहती है, प्रतीति रहती है जिसके कारण वह गुप्त ही गुप्त, अन्दर हो अन्दर अपना काम बनाये रहता है।

(१६) प्राप्त सुअवसर खोने का खेद--भैया ! एक धुन की बात है। एक बार सही जँच जाने की बात है। इस बात को यदि कोई नहीं जँचाता, अपने आपके स्वरूप की दृष्टि के लिए यदि अपना जीवन नहीं लगाता तो पहिली खेद की बात तो यह है कि मनुष्य होकर भी उसने अवसर खोया। और उससे अधिक खेद की बात यह है कि योग्य बुद्धि पाकर, ज्ञान योग्यता पाकर अपनी भलाई का अवसर खोया, और सबसे अधिक दु:ख की बात यह है कि ऐसा मोक्षप्रद पवित्र जैनशासन का समागम पाकर उसने उस अवसर को व्यर्थ खोया। बहुत दिल लगाया, बहुत आकर्षण किया वैभव और परिजनों में और इसी कारण बहुत क्लेश भी सहे। अब तो सही ज्ञान करके मूलत: उनसे प्रतीति हटाकर एक परमात्मस्वरूप की प्रतीति करना है।

(१७) भक्ति में लगने की रूपरेखा--जब उपयोग भक्ति समाती है, प्रभु अरहंत सकलपरमात्मा, जो इस पृथ्वी से ५ हजार धनुष पर विराजमान हैं, जिनकी वीतरागता, सर्वज्ञता, प्रभुता से प्रभावित होकर असंख्य देव अपने स्थान को तजकर प्रभु की सेवा के लिए आ रहे हैं। और उस समय जिस देव के पास जितना बड़ा वैभव है, जितना बड़ा श्रृंगार है, जितनी उच्च कलायें है, वे देव उस ठाट-बाठ सबसे युक्त होकर अपनी संगीतकला, नृत्यकला, रूप का गायब करना, प्रकट करना आदिक जितनी कलायें हैं उन सब कलावों सहित बड़ी उमंग से प्रभु के दर्शन करने के लिए आ रहे हैं। प्रभु की भक्ति में जो-जो कुछ भी अदभुत कार्य, अदभुत ठाठ किये जा सकते हैं वे सब कुछ देव कर रहे हैं। इतने बड़े मनोहारी चमत्कारी समवशरण की रचना है कि जिसके मानस्तम्भ को निरखकर बड़े-बड़े अभिमानियों का मान चूर हो जाय, और आगे भी रचनाओं को करते-करते द्वादश सभाओं की रचना, उसके भीतर गंधकुटी की रचना जिस पर सिंहासन, स्वर्णकमल, जिस पर प्रभु का विराजमान होते, आदि सारी रचनायें वे देव इन्द्र कुबेर सब अपना पूरा बल लगाकर रच रहे हैं। उनकी भक्ति देखिये कितनी अटूट है। ये मनुष्य लोग उन इन्द्रों की यहाँ नकल करते हैं। इन्द्रों की तरह मुकुट लगाकर, तिलक लगाकर, हाथों में कंगन पहिनकर, कमर में करधनी लटकाकर

यहाँ मूर्ति का अभिषेक करने की बात करते हैं। वह क्या है ? वह है इन्द्रों की नकल। तो इन्द्र तो देवगति के जीव है, संयमरहित हैं, वे अधिक से अधिक भगवान की भक्ति के लिए क्या कर सकते हैं ? मनुष्यों की तरह संयम धरण कर लें और उस पद्धति से वैराग्य को बढ़ा लें, यह शक्ति इन्द्रों में नहीं है। तो जो उनमें बल था, जो कला थी, जो साज-श्रृंगार था, उस सबका उपयोग उन देवों ने किया। मनुष्य यदि भक्ति में बढ़ता है और वह देव इन्द्रों की भक्ति तक रहता है तो यह तो मनुष्य की त्रुटि है। उसे तो अपने में जो योग्यता मिली, जो कला मिली उसका पूरा उपयोग करना था, अपना चित्त ज्ञान वैराग्य से वासित बनाना और बढ़ाना यह काम था।

(१८) वीतरागता के नाते का आकर्षण--खैर अब आगे देखिये-प्रभु अरहंत विराजे हैं समवशरण में, चारों ओर से देव देवियाँ नृत्य करती हुई आ रही है। संगीत की कलायें जो देवों के पास है वे मनुष्यों के पास नहीं है। नृत्य की कलायें जो देवों के पास है वे मनुष्यों के पास नहीं है। यहाँ के मनुष्यों की ऊंची कलावों को निरखकर लोग दंग रह जाते हैं, लेकिन इनसे हज़ारों लाखों गुनी ऊंची कलायें देवों में हैं। वे अपने आपको भूलकर एक प्रभु की भक्ति में ही अनुरंजित होकर कैसा समवशरण में भक्ति प्रदर्शित करते हैं। भला बतलावो तो सही, वे देव भगवान के कुछ रिश्तेदार लगते हैं क्या ? क्यों वे देव अपना सर्वस्व अर्पित कर प्रभु के चरणद्वय के निकट मंडरा रहे हैं। वह सब प्रताप है वीतरागता का। वीतरागता का नाता इन जीवों के आकर्षण के लिए एक सच्चा नाता है। इतना पवित्र आकर्षण राग के नाते में नहीं हो सकता। इतना सामूहिक आकर्षण यहाँ के माने हुए रिश्तेदारों में नहीं हो सकता।

तब सुविदित होता है कि ऐसे वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की भक्ति ही हम आपका शरण है। अपने दिल को थामकर विषयों से निवार-निवार कर प्रभु की भक्ति में अधिकाधिक अपने दिल को लगाइये। वही एकमात्र शरण है। तो ऐसे प्रभु की शरण में जो प्राणी जाते है वे अपने कर्ममल, पापमल को धो डालते हैं, अपने को पवित्र कर लेते हैं। यह भक्ति का नाता बडा़ पवित्र नाता है।

(१९) भक्ति के प्रसंग में लाभ और अलाभ—देखिये—प्रभु भी परद्रव्य हैं, उनका भी आत्मा मेरे आत्मा से जुदा है, लेकिन प्रभु की भक्ति से हमें अपनी निधि मिलती है और परिजनों की भक्ति से हमारी निधि नष्ट होती है। ज्ञानी पुरूष प्रभु भक्ति के लिए चल रहा है, भक्ति कर रहा है और वैसी ही भक्ति में सारी प्रजा भी दौड़ रही है। प्रभु की महिमा गाते हुए वह ज्ञानी भक्त कह रहा है—हे प्रभो ! तुम्हारे चरणों में भक्ति करने के लिए यह जो सारी प्रजा खिंची चली आ रही है वह आपके स्नेह से नहीं। स्नेह का तो इन भक्तों ने बंधन तोड़ा है तब आपके पास आ सके। स्नेह बन्धन में बँधा हुआ प्राणी प्रभु के निकट आ ही नहीं

सकता। हे प्रभो! यह सब प्रजा, ये सब भक्त लोग स्नेह के कारण आपकी शरण में नही आते, आपसे इनका कोई नाता रिश्ता नहीं। आप में वीतरागता व सत्यानन्दधामता निरखकर अपने दु:खों से ऊबकर आपकी शरण में आते हैं।

(२०) प्रभुप्रसंग में रिश्ते नाते का बिल्कुल अप्रभाव--नाते रिश्ते की बात देखो-तो ऋषभदेव स्वामी या महावीर भगवान जो भी तीर्थंकर केवलज्ञान अवस्था में परमातमअवस्था में विराजमान है समवशरण में गंधकुटी पर। उस नगर में, उस समवशरण में उनके भी तो रिश्तेदार होंगे। गृहस्थी के माता-पिता, स्त्री-पुत्रादिक वे भी तो समवशरण में आते होंगे, लेकिन वे लोग अन्य मनुष्यों से ज्यादा कुछ कर भी सकते हैं क्या जितना अन्य साधारण जन कर सकते उतना ही वे कर सकते। वहाँ तो सब जन एक समान हैं। क्या यह हो सकेगा कि वहाँ के प्रभु का पुत्र उन सबको पारकर गंधकुटी में जाकर थोड़ा अपने पिता के चरण छू ले ऐसा कर तो नहीं सकता। यहाँ चाहे जो इस प्रभु की प्रतिमा को छू ले, चाहे जो उसका अपमान कर ले। प्रभु की यह प्रतिमा तो दूर से दर्शन करके अपने भावों को निर्मल बनाने के लिए थी, लेकिन लोग उस प्रतिमा को छूकर उसे अपने घर की जैसी चीज समझकर सस्ता सौदा समझकर उसका अपमान कर लें यह बात अलग है। अगर कोई गुरू अपने यहाँ आ जाये तो उसके भी असर और विनय से लोग कुछ दूर से ही नमस्कार करते है, पर लोग प्रभु की प्रतिमा को हाथों से छूकर उसका क्या, अपना अपमान करते है। तो समवशरण में प्रभु का पुत्र इतनी हिम्मत नहीं कर सकता कि वह प्रभु के निकट पहुंचकर उनके पैर छू ले। इन्द्र का शासन सबके लिए समान है। वहाँ जरा भी तो बात नहीं रह गयी राग और पक्ष की। ऐसे प्रभु की जब भक्ति की जाती है उनके स्वरूप का स्मरण किया जाता है उस समय आत्मा के अन्त: पड़े हुए वैभव की समृद्धि देखिये –कितना ही अनोखा आनन्द प्रकट होता है, कर्म तड़ातड़ टूटते हैं।

(२१) पाना और खोना—प्रभुभक्ति में हमने अपने आप को पाया और परिजनों की भक्ति में हमने अपने आपके वैभव को खोया। इतना महान अन्तर है परिजनों की भक्ति में और प्रभु की भक्ति में। जब परिजनों के बीच मोह ममता करके रह रहे हैं तो यह तो होगा ही कि उनमें से किसी न किसी का वियोग होता ही रहेगा। मरण तो सबका होता ही है। तो उस वियोग के काल में कितना दु:खी होना पड़ता है। लेकिन उनकी इस बेवकूफी पर हँसे कौन जब सभी इस संसार में वैसे ही बस रहे हैं, सभी मोही हैं, मलिन है तो फिर उनकी इस बेवकूफी को बेवकूफी कौन समझे? हां, जिन्होंने अपने आपके एकत्व चैतन्यस्वरूप की अनुभूति की है, बस वे ही विजयी पुरुष हैं, वे ही समस्त विपदाओं को पार करके अपने विशुद्ध आनन्दामृत का पान कर सकेंगे। बाकी तो सब रुलते ही रहेंगे। स्नेह एक जाल है।

(२२) प्रभु शरणग्रहण का कारण—हे प्रभो ! आपके स्नेह से ये समस्त भक्त जन आपके चरणद्वय की शरण में नहीं आये हैं। इनके आने का कारण तो दूसरा ही है। वह कारण यह है कि यह संसाररूपी घोर समुद्र भयानक सागर नाना प्रकार के दु:खों से भरा हुआ है। यहाँ के दु:खों की क्या चर्चा करें। ये संसारी जीव विकल्पमूसलों से रात-दिन कुट रहे है। यहाँ से मरण करते ही तुरंत दूसरा नया देह धारण कर लेते हैं। यों जन्ममरण की परंपरा में फँसे हुए ये प्राणी घोर दु:ख सह रहे हैं। जन्ममरण करते हुए जब जिस जगह पहुँचे वहाँ के समागमों को अपना मान लेते हैं। परद्रव्यों को अपना मानने के बराबर संकट दुनिया में अन्य कुछ भी नहीं है। सर्व संकटों का मूल यही भूल है। फिर शरीर के साथ रोग व्याधियों के, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदिक के अनेक संकट लगे हुए है। जहाँदेखो लोक में सर्वत्र दु:ख ही दु:ख छाया हुआ है। यही कारण है कि ये भक्त जन आपके चरणद्वय की शरण में आये हुए है। जैसे यहाँ भी जो लोग कभी चन्द्रमा की शीतल किरणों को सेवने के लिए अथवा ठंडे जल में स्नान करने के लिए अथवा वृक्षों की छाया में बैठकर आराम करने के लिए आते हैं सो वे उन चन्द्रमा की किरणों के प्रेम से या जन वृक्ष आदिक के प्रेम से नहीं आते हैं, बल्कि अपनी गर्मी की आताप मेटने के लिए आते है।

(२३) पर के स्नेह से शरण ग्रहण करने की अयथार्थता—पर से स्नेह कर सकना और परस्नेह से पर की शरण गहना तो जीवों की प्रकृति ही नहीं है। चाहे ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, सबकी यही बात है। अज्ञानी जन अगर विषयप्रसंगो में लगते हैं तो वे भी कहीं विषयसाधनों के स्नेह से नहीं लगते, बल्कि अपने दु:ख को, अपनी व्यथाओं को मेटने के लिए लगते हैं। कहते वे ऐसा ही हैं कि हमारा तुमसे बड़ा प्रेम है, बड़ा स्नेह है, पर उनका यह कहना बिल्कुल झूठ है। कोई किसी पर से स्नेह कर ही नहीं सकता। सभी में अपने में बाधायें है, अपने में विकल्प हैं, अपने में अशान्ति है, उसको दूर करने के लिए अपनी चेष्टायें की जाती हैं। अब जिन्होंने जिस चेष्टा से अपना भला समझा है वे उस प्रकार की अपनी चेष्टा करते हैं। मोहियों ने विषयसाधनों से स्नेह रखने का प्रयत्न किया है और उसमें राजी होना मानते हैं तो वे कहते हैं कि हमारा तुम पर बड़ा स्नेह है। अरे जब कोई बात बिगड़ जाती है, कषाय से कषाय नहीं मिलती है, अपने मन के अनुकूल बात नहीं बनती है तो वह ही स्नेह दिखाने वाला व्यक्ति अपना मुख मोड़ लेता है। वह सोचता है-ओह ! मैंने तो इससे बड़ा स्नेह किया, पर इसने मेरी बात भी न सुनी। अरे तू कहाँ उससे स्नेह कर रहा था ? तू तो अपने विकल्पों में ही रम रहा था। तो ये अज्ञानी जीव भी किसी के स्नेह से किसी के शरण में नहीं पहुँचते। जीव में यह प्रकृति ही नहीं है कि वह किसी पर से स्नेह कर सके।

(२४) जीवों का मौलिक दु:ख और उसकी निवृत्ति में शरणग्रहण—हे प्रभो ! जब वस्तु स्वरूप में ही यह बात नहीं पड़ी है कि कोई किसी पर का कुछ कर सके तो ये भक्तजन आपके स्नेह से कैसे आपकी शरण

में आ सकते हैं ? आपके चरणद्वय की शरण में आने का कारण यही है कि सारा संसार दु:खों से भरा हुआ है, और ये सब जीव उन समस्त दु:खों से ऊब चुके हैं, वे अब नहीं चाहते हैं उन दु:खों को, सो उन समस्त दु:खों को वे सही ढंग से मेटना चाहते हैं, और जिन्होंने समस्त दु:खों के मेटने का सही ढंग समझ लिया है वे आपके चरणद्वय की शरण में आते हैं। संसार को दु:खमय समझ लेना यह भी एक बहुत बड़ा भारी धर्म का काम है, पर उन छोटे-छोटे बालकों की भाँति ये सब जीव है। जैसे बालक लोग नक़्शों द्वारा अमेरिका, जर्मनी आदिक विदेशों की नदियाँ, पहाड़ आदिक तो खूब समझ लेते हे, पर वे अपने ही गाँव के निकट की नदी अथवा पहाड़ के विषय में कुछ नहीं जानकारी रखते, इसी तरह ये संसारी मोही प्राणी दूसरों के दु:खों को देखकर अथवा अपने पर कुछ विपदायें आते देखकर तो शीघ्र समझ लेते है कि यह संसार दु:खमय है, पर उनकी निगाह में यह बात नहीं आने पाती कि हमारी इन विपत्तियों का मूल कारण हमारा ही पर की ओर का आकर्षण है, हमारा ही अज्ञानभाव है। जो अपने सर्वदु:खों का मूल कारण स्वयं का ही अज्ञानभाव है ऐसा समझकर कहे कि सारा संसार दु:खमय है तो ऐसा ही संसार के दु:खों का सच्चा परिचयी पुरूष प्रभुभक्ति में सही ढंग से आता है।

(२५) प्रभुभक्ति और आत्मध्यान का सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य—प्रभुभक्ति और आत्मध्यान इन दो कर्तव्यों के समान अन्य कुछ पावन और आवश्यक कर्तव्य है ही नहीं। केवल दो ही श्रेष्ठ, शरण भूत काम जीवन में किये जाने योग्य हैं- प्रभुभक्ति और आत्मध्यान। और उत्कृष्ट काम कभी दो नहीं हुआ करते, एक ही हुआ करता, तो ये प्रभुभक्ति और आत्मध्यान चूँकि मूलत: एक ही उद्देश्य को लिए हुए हैं, अत: ये भी दो बातें नहीं हैं, एक ही है। और वह क्या है ? चैतन्यस्वरूप की भक्ति। चित्स्वरूप की भक्ति में परमात्मभक्ति भी आयी और आत्मभक्ति भी आयी। ऐसा भक्ति का अलौकिक प्रसाद है कि भक्ति के प्रसाद से भक्त का उद्धार हो जाता है, संकट छूट जाते हैं। क्यों न सारे संकट दूर हों, जब चित्स्वरूप में विशुद्ध ज्ञानमयता का ही ज्ञान चल रहा है चार प्रकार के दानों में सबसे प्रधान दान ज्ञानदान को शास्त्रों में कहा है, ओर उस ज्ञानस्वरूप की भक्ति करके आप यही स्वीकार कर लेंगे-ओह ! ज्ञानदान ही सर्वोत्कृष्ट दान है।

(२६) ज्ञानातिरिक्त अन्य दानों में संकटों के मूलत: विनाश का अभाव—किसी मनुष्य को रोजगार लगाकर, धन देकर उसकी तकलीफ मिटायी तो कितने दिन की तकलीफ मिटायी ? और इसका भी कुछ पता नहीं कि तकलीफ मिटे या नहीं। तकलीफ बढ़ भी तो सकती है। किसी की भूख प्यास मिटाकर तकलीफ मिटायी तो वह ठीक है, मगर यह तो सोचिये कि कितने दिनों की तकलीफ मिटायी ? जो तकलीफ मिटायी गई भूख प्यास की, उसके बाद में क्या वह तकलीफ न होगी ? तो यद्यपि ये सब दान भी उचित हैं, लेकिन जब हम इसको पूर्ण हितरूप की दृष्टि से निरखते हैं तो ज्ञानदान एक बहुत उत्कृष्ट रूप में

निरखा जा सकता है। किसी रोगी दु:खी की औषधि कर दी तो ठीक है, वह भी एक सामने का कर्तव्य है, लेकिन जरा इस विवेक की ओर से तो सोचिये कि यदि एक समय का रोग कुछ शान्त कर दिया तो इससे क्या यह आत्मा पार पा जायगा ? इसको आगे कभी रोग न होंगे क्या ? वह आगे के रोग के चक्र से छूट जायगा क्या ? नहीं छूटेगा। किसी पुरूष को स्थान देकर, धर्मशाला में ठहराकर, अन्य प्रकार वचनों द्वारा ढाढ़स देकर उसको किसी भय के प्रतिकूल अपनी चेष्टा का सहयोग देकर निर्भय बना दिया, उसे कुछ सान्तवना दिला दी, तो यद्यपि यह कर्तव्य है, लेकिन विवेक से सोचो कि थोड़ा अगर किसी को निर्भय बना दिया तो क्या वह निर्भय बना ही रहेगा ? क्या आगे कोई भय न आयेंगे ?

(२७)ज्ञानदान से संकटों का मूलत: विनाश—अब जरा ज्ञानदान की बात देखो-आत्मा का शुद्ध सहजस्वरूप क्या है इसका ज्ञान हो जाय किसी को-मैं स्वयं ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र हूँ, स्वयं सब विकारों से दूर केवल एक ज्ञाता दृष्टा मात्र हूँ, ऐसा ज्ञान, ऐसा अनुभव यदि किसी उपदेश के निमित्त से हो जाय तो जिसमें यह ज्ञान प्रयोगात्मक रूप से किया गया है उस विशुद्ध ज्ञान की अनुभूति का यह प्रताप है कि कर्मबन्ध तड़ातड़ टूट जाते हैं, नवीन कर्म आते नहीं, जन्ममरण की परम्परा मिट जाती है और निकट काल में ही देह से सदा के लिए रहित हो केवल निज स्वरूपमात्र ही सदा के लिए रहकर अनन्त ज्ञान का साधन बन जाता है। ऐसी कुंजी ऐसे ज्ञान की प्राप्ति होना कि जिससे भव-भव का भ्रमण ही मिट जाय, भव रहित अवस्था हो जाय, मैं अपने विशुद्ध वास्तविक प्रतिभाव स्वरूप में समा जाऊँ, ऐसी बात अगर बन जाती है तो इससे कोई बढ़कर बात है क्या लोक में ? देखो सदा के लिए उसके दु:ख, क्लेश, जन्ममरण सब छूट गए। अब दूसरे दानों की आहारदान, औषधिदान और अभयदानों की भी जरूरत नहीं। बिल्कुल विघ्नों से पार हो गया। तो ऐसे अन्तस्तत्व की बात, ऐसे अंतस्तत्व का ध्यान इस लोक में सर्वोत्कृष्ट है।

(२८)प्रभुभक्ति व आत्मध्यान की प्रतिमूर्तता—प्रभुभक्ति व आत्मध्यान, इनसे बढ़कर दुनिया में और कोई कार्य नहीं है। सच पूछो तो प्रभुभक्ति और आत्मध्यान, इनकी मूर्ति होते हैं मुनि। जैसे हम अरहंत मूर्ति के निकट बहुत कुछ स्वरूपध्यान और आत्मलाभ करके जाते हैं और यह मूर्ति तो कुछ भी नहीं बोलती है। तो साधु जन जो कि अरहंत के ही नन्दन माने गए हैं वे भी उस मूर्ति की तरह मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति में निरंतर रहते हैं। हाँ गुप्ति में जब नहीं रह पाते हैं तब ही जगत के जीवों को हित करने वाला, अपने आपकी सम्हाल से दूर न जाने वाला व्यवहार बनता है। ऐसे मुनि आत्मा के ध्यान की मूर्ति ही कहलाते हैं, और लोग इसी कारण मुनिभक्ति करते हैं। मुनि के सत्संग में रहेंगे, उनकी सेवा में रहेंगे तो हमारे यहाँ वहाँ के विषय जाल गप्प सप्प ये सब छूट जायेंगे और हम भी मोक्षमार्ग में अपना कदम

बढ़ायेंगे।

(२९) दु:खसंतप्त विवेकी जीवों का परमार्थ शरणग्रहण—जो जीव प्रभुभक्ति व आत्मध्यान के रूप में प्रभु का शरण गहते हैं सो कब और क्यों ? जब दु:ख से संतप्त होते हैं। बच्चा भी तो दु:खी हुये बिना माँ बाप की शरण नहीं लेता। कोई सताये, कोई छेड़े, पकड़े तो घबड़ाकर, दु:खी होकर माँ की शरण में वह बच्चा पहुंचता है। खुद को भूख लगी हो, दु:खी हो तो वह माँ की शरण गहता है। दु:खी हुए बिना तो बच्चा भी माँ की शरण नहीं लेता। प्रभु की शरण लेने वाले लोग ये ही तो हैं जो नाना संतापों से दु:खी हैं और उन दु:खों से घबड़ायें हुए हैं। इस जीव ने अनेक शरण ढूँढ़े, सबसे प्रार्थना की, सबके आगे कायर बना, मुझे कोई सुखी कर देगा। छोटे-छोटे बच्चों के आगे भी यह बाप कायर बन रहा है। दो एक वर्ष के बच्चे का मुख देख-देखकर कायर बन रहा, यह मुझे सुख देगा, इससे मुझे आनंद मिलेगा, और बुढ़ापे में तो उसका आश्रय ताकते ही हैं। तत्काल के भी आनन्द का आसरा उस बच्चे की ओर तक रहे हैं। जगह-जगह डोला, जगह-जगह शरण गही, हर एक मलिन पुरुषों के आगे झुका, अपने आप को दीन बनाया, पर इन सब प्रवृत्तियों से इसका दु:ख बढ़ता ही गया, शान्ति कभी न पायी। जो दु:खों से मुक्त हुए वे ही आकस्मिक निरपेक्ष निश्चेष्ट रहकर शान्ति के कारण बन जाते हैं। तो जैसे लोग ऐसी गर्मी के दिनों में कहीं बाहर जाते हैं कि सूर्य की तीव्र किरणें विकट गर्मी के कारण जमीन में समा गई हैं, तो वे जाने वाले लोग मार्ग में किसी वृक्ष की छाया के निकट या शीतल चन्द्र की किरणों में जाते हैं तो वे क्यों जाते हैं? या उन्हें वहाँ कौन पहुँचाता है ? तो उन्हें वहाँ पहुँचाता है ग्रीष्मकाल का सूर्यातप। वह बनता है ग्रीष्मकाल में लोगों को दु:ख का कारण, तो उस संताप से पीड़ित पुरूष इस शीतल छाया में जाया करते हैं।

(३०) प्रभुसेवक को याचना में क्षति का योग—यहाँ भक्तजन जाते हैं प्रभु की शरण में। तो प्रभु की शरण में जाने वाला भक्त पुरूष यदि प्रभु से कुछ माँग बैठे-धन वैभव, जय-विजय, परिवार सुख, संतान आदिक, तो यों समझिये जैसे किसी बड़े पुरूष के पास जाकर कोई गंदी रद्दी चीज माँग बैठे तो वह चीज उसे मिल तो जायगी, क्योंकि बड़े पुरूष का सान्निध्य पाया है, सो इस माँगने वाले को वह चीज मिल तो जायगी, क्योंकि थोड़ी मंद कषाय करके उसने अपना पुण्य रस बढ़ाया है, लेकिन यह जानिये कि उस बड़े के पास पहुंचकर यदि वह भक्त कुछ न माँगता तो उसे कोई बड़ी चीज मिल जाती। बड़ा अपनी ओर से जो कुछ देता वह कुछ बड़ी ही बात थी, लेकिन इस शरण गहने वाले ने अपनी बुद्धि के अनुसार न कुछ जैसी चीज मांग ली तो उसके आगे अब यह हिसाब तो न रहा कि अरे तू इतनी तुच्छ चीज क्यों माँगता है, इस तुच्छ चीज के मांग लेने से तू बड़े लाभ के पाने से वंचित रह जायगा, लाभ के बजाय तू टोटे में ही रहेगा। प्रभुचरणों की सेवा, प्रभुस्वरूप का स्मरण केवल एक अलौकिक आनन्दधामस्वरूप निरखकर

तृप्त रहने के लिए ही करता रहता तो इसको अपने आप इतनी समृद्धियाँ ऋद्धियां मिलती कि जिन पर लोग अचरज किया करते, लेकिन मांग लिया कोई धन वैभव आदिक तो उसका भी ठिकाना नहीं कि मिल ही जायगा। मिले अथवा न भी मिले, लेकिन यह तो निश्चित हो गया कि जो अलौकिक लाभ इसे मिलना था वह न मिलेगा।

(३१) प्रभुसेवक ज्ञानी की अयाचना का कारण--ज्ञानी संत पुरूष प्रभुस्वरूप का स्मरण करते हैं, स्मरण की छाया में रहते हैं। विवेकी पुरूष क्यों नहीं कुछ चाहते ? क्यों नहीं कुछ माँगते ? उसका कारण स्पष्ट है। जैसे कि कोई पुरूष गर्मी के संताप से दु:खी होकर, मान लो गर्मी के दिनों में रास्ते में चल रहा था कोई पथिक ऊपर की तीव्र भीषण गर्मी से व्याकुल होकर वह यहाँ वहाँ तलाशने लगा मार्ग के निकट कि कहीं कोई छायावान वृक्ष मिल जाय तो मैं उसकी शरण में जाऊँ और अपनी गर्मी का संताप मिटाऊ चलते-चलते मिल गया कोई बरगद का पेड़, उसमें घनी छाया थी, उस छाया के नीचे पहुंच गया। छाया में पहुंचकर क्या कभी किसी मनुष्य को देखा ऐसा कि वह वृक्ष से हाथ जोड़कर याचना करता हो कि ऐ वृक्ष तू मुझे शीतल छाया दे दे ताकि मैं अपनी गर्मी का संताप मिटा लू ? अरे वह तो छाया में पहुंच गया, विश्राम से रहने लगा। इसी प्रकार जो प्रभुस्वरूप के स्मरण की छाया में पहुंच गया वह तो शान्त है, विश्रांत है, तृप्त है, वह अब कुछ नहीं माँगता कि हे प्रभो ! मुझे अमुक चीज दो। मांगने से क्या फायदा? तो यह ज्ञानी पुरूष प्रभु के स्वरूप के स्मरण में पहुंच गया है। अब उसको वास्तविक शरण मिल गया है, बस ज्यों- ज्यों वह अपना कदम बढ़ाता है, उस मार्ग में प्रगति करता है त्यों-त्यों उसका काम दुगुना सधता चला जाता है।

(३२) आत्महित के लिये केवल स्व का सम्बन्ध—भैया ! सब कुछ सोचना है केवल अपने आप को निरखकर। दूसरे को देखकर, दूसरे की आशा रखकर, दूसरे के प्रयोजन को लेकर यहाँ कुछ काम नहीं किया जाना है। यहाँ तो केवल एक निज से ही सम्बन्ध रखना है दूसरे से नहीं। यदि अपना वास्तविक हित चाहिए तो उसका सम्बन्ध है केवल अपने आप से किसी दूसरे से नहीं। कहीं भी हो। शरीर से पवित्र हों अथवा अपवित्र। कहीं भी बैठे हों, कैसे ही बैठे हों, किसी भी अवस्था में हों, वह आत्मा पावन है जो अपने ज्ञानस्वरूप में अपने ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव कर रहा है। चाहे वह दस्त में, मूत्र में लिपटा हुआ क्यों न पड़ा हो ? आत्मा को चाहिए क्या ? शान्ति! शान्ति उसको मिल ही रही है जो अपने ज्ञानस्वरूप के स्मरण में बना हुआ है। और उसी से सम्बंध है प्रभुभक्ति का। अतएव प्रभुभक्ति और आत्मध्यान इन दो पुरूषार्थो और कर्त्तव्यो से बढ़कर दुनिया में कुछ भी नहीं है। एक यही निर्णय कर लीजिए अपने जीवन में

कि प्रभुभक्ति आत्मध्यान, बस दो ही मेरे काम है, दो से ही मेरा प्रयोजन है, अन्य किसी से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं।

(३३)व्यवहारापन्न ज्ञानी गृहस्थों के कर्तव्य की झलक—यह व्यवहार, यह लोगों का उठना बैठना, यह लोगों का वार्तालाप, ये सब आग हैं, संताप हैं, दु:ख हैं, मगर गृहस्थजन क्या करें ? मुनिजन हों तो इनसे कुछ दूर भी रह सकते हैं, जिन्हें किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है, केवल तीव्र क्षुधा की वेदना हुई तो सामायिक का समय छोड़कर दिन में किसी भी समय किसी ओर निकल गए और सुगमता से विधि सहित आहार मिल गया तो लेकर चले आते हैं। यदि आहार मिल गया तो ठीक, न मिला न सही, जिन्होंने यह सोच लिया है कि मैं तो मर ही चुका, अब रहा-सहा जीवन आत्मकल्याण के लिए है, वही तो मुनि बन सकेगा और जो भविष्य की आशंकायें करें, किसी जगह मुझे कदाचित् आहार न मिला तो क्या होगा, ऐसी आशंका रखकर किसी महिला आदिक को अपने पास रखना कोई समय ऐसा न हो कि मुझे आहार न मिल सके ऐसी आशंका जो व्यक्ति रख रहा है वह प्रभुभक्ति में और आत्मध्यान में नहीं उतर सकता है। मुनिजन तो पूर्ण निरपेक्ष होते हैं, पर गृहस्थजन क्या करें ? उन्हें तो संग में रहना ही है, व्यवहार में चलना ही है, लोगों से बोलना ही पड़ेगा। तब क्या करें गृहस्थजन ? वे यह करें कि जो असली बात है उसे जान ले। आँखें खुली, चीज दिखी तो वह ज्ञान में आ गई। वह चीज भूलेगी तो नहीं, इसी तरह मन से अनुभव कर लिया, भीतर समझ लिया, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष जान लिया, फिर वह बात कैसे भूल जायगी ? बस वह ज्ञान ही इस गृहस्थ का सहाय है। यह व्यवहार, यह जनसम्पर्क, यह लोगों का बीच, ये तो सब आग है, संताप हैं, इनमें पड़कर भी इस गृहस्थ को बचाने में कोई समर्थ है तो वह ज्ञान स्मरण ही समर्थ है। और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

(३४) सुगम स्वाधीन धर्मपालन के लिये उत्साहन—अब समझ लीजिए कि कितना तो सुगम काम है सदा के लिए संसार के संकटों से छूटने का और कितना स्वाधीन काम है। जब गर्दन झुकावो देख लो अन्दर, जब उपयोग लगाया, देख लो अन्दर, जब इन्द्रियों का व्यापार बंद किया देख लो अन्दर। जिसने जो बात देखी है, अनुभवी है उसको उसे देखने में देर तो नहीं लगती। जैसे आपके घर में किसी बक्स के अंदर कोई चीज रखी हुई है, उसे आप जानते है, तो मंदिर में अथवा अन्य कहीं बैठे हुए जब आपका चित्त उस चीज की ओर पहुंच जाता है तो आपको उसके जानने में देर तो नहीं लगती। तो इसी तरह से अपने अन्दर छिपी हुई चीज को जिसे कि आप जानते हैं, जब देखना चाहो देखे लो अन्दर। इस काम को करने में अगर कष्ट भी सहने पड़े तो सह लो। इस आत्मस्वरूप के अनुभव के प्रसाद से तो सदा के लिए सर्व संकट समाप्त हो जायेंगे। शुद्ध आत्मतत्व का विकास होगा। कर्मवश होकर तो अभी तक खूब संकट सहे,

नरकनिगोद घोर संकट सहे। पशु-पक्षी कीट पतिंगा, सूकर, गधा, झोंटा आदिक की पर्यायों में पहुंच-पहुंचकर घोर संकट सहे। तो परवश तो कठिन से कठिन दु:ख सह लिये जाते है, पर स्ववश होकर धर्मपालन के लिए थोड़ा सा भी कष्ट नहीं सहा जाता। थोड़ा संयमरूप प्रवृत्ति बने न ज्यादा बार खावें, एक दो अथवा तीन बार नियमित रूप से दिन में ही खा लेवें, रात्रि को न खावें, यत्र तत्र गप्प सप्प की गोष्ठियों में न बैठे, व्यर्थ के आलाप-प्रलाप में न पड़े, कुछ समय सत्संग में व्यतीत करें, धार्मिक कार्यो में रूचि रखे आदि इन बातों में क्या कष्ट है ? लेकिन स्ववश होकर थोड़े-थोड़े कष्ट भी नहीं सहे जाते।

(३५) करणीय अकृत कार्यो के लिये कष्टसहन का श्रृंगार—भैया ! धार्मिक कार्यो में यदि कष्ट भी सहन करने पड़े तो उन्हें समता से सहकर अपने आप में जो आत्मस्वभाव आत्मज्ञान, आत्मतत्व की बात अंत:प्रकाशमान है उसका अनुभव कर लें। यह एक अलौकिक कार्य है, इसको कभी नहीं किया गया है, बाकी तो सभी कार्य खूब किए गए। मनुष्य होकर बच्चा बच्चियों से प्रीति रखना यह कोई अनोखा कार्य है क्या ? अरे सूकर होकर १०–१२ बच्चों से खूब प्रेम किया, कुत्ता, बिल्ली आदिक बनकर दो दो चार चार बच्चों से खूब दिल बहलाया। उनके बच्चों से ये मनुष्यों के बच्चे कोई खास है क्या ? प्रेमार्थ जैसे मनुष्यों के बच्चे, वैसे ही सूकर, कुत्ता, बिल्ली आदि के बच्चे। भैया ! यह बात मोह के नाते से कही जा रही है। जैसे मनुष्य मोहवश अपने बच्चों से प्रेम करते हैं, ऐसे ही वे पशु पक्षी आदि भी मोहवश अपने बच्चों से प्रेम करते हैं। धन सम्पदा की बात ऐसी है कि उसे खूब जोड़ते जावो, पर अन्त में उससे फायदा क्या मिलेगा ? इस जीव की दुर्गति को यह धन मिटा देगा क्या ? बल्कि जो चिन्ता की, जो शोक किया, जो व्याकुल भाव हुए, जो क्षोभ हुए, धर्म के लिए समय न मिला, यह जीव की कितनी बरबादी की चीज है। बड़े-बड़े उपसर्ग सहकर भी धर्म में अग्रसर रहो। यह तो कष्ट आप सह लेगे। एक कष्ट और भी है उसे भी सह लेना हँसकर। सुनिये वह बात।

(३६) लोकापलाप की भी उपेक्षा करके, कष्ट सहकर भी प्रभुत्व की उपासना की प्रेरणा—बाहरी व्यवहार में कम रहने वाले, धर्म के कार्यों में अधिक समय देने वाले को अधिकांश लोग बुद्धू सा भी कह बैठेंगे, लेकिन कह लेने दो। उनकी भी बातें सुन लो। इसकी भी परवाह न करो कि लोग मुझे क्या कहेंगे ? अरे लोग क्या कहेंगे वे जैसे स्वयं है तैसे ही कहेंगे। जो जैसा खुद है वह वैसा ही कहेगा। और क्या कहेगा ? जब दो बालकों के बीच में कुछ गाली गलोज की बात हो जाती है तो एक उद्दण्ड बालक दूसरे को बहुत-बहुत गालियाँ दे देता है, बहुत सी उल्टी सीधी बातें बक देता है, पर जो सज्जन बालक है वह सिर्फ एक ही

बात कह देता है-क्या कि जो कुछ तूने कहा वह सब तू ही है, मैं क्यों हूँ ? लो सारी बातें उस उद्दण्ड बालक पर लग गयीं और उस समय बालक की सभ्यता भी बढ़ गई। तो ऐसे ही ये मूढ़ जन भले ही कुछ कहें-उन्हें कहने दो, उनकी बातों का कुछ भी बुरा न मानो। समस्त संकट उपसर्ग सहकर भी इस चिदानंद घन सर्व क्लेशों से विमुक्त, जन्ममरण की परम्परा को नष्ट कर देने वाले इस प्रभु के उज्ज्वल स्वरूप की भक्ति करो और अपने आप में सहज अन्त: प्रकाशमान जो स्वरूप है उस स्वरूप का ध्यान करो।

(३७) प्रभुभक्ति और आत्मध्यान करके अपने को नि:संकट बनाने का संदेश—प्रभुभक्ति और आत्मध्यान ये ही दो कार्य हैं जीवन में किये जाने योग्य। इस बात को पत्थर में खोदकर रख लो, अरे पत्थर में खोदने से क्या ? अपने उपयोग में गड़ा कर रख लो कि प्रभुभक्ति और आत्मध्यान ये ही दो काम जीवन में किये जाने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त जो कुछ भी गड़बड़-सड़बड़, अच्छा बुरा होता हो होने दो, ऐसा समझो कि मुझे इस ओर से कोई बेचैनी नहीं है। मेरे काम तो करने के मुख्य दो ही है-प्रभुभक्ति और आत्मध्यान। इन दोनों कार्यो में लगे हुए व्यक्ति कभी दु:खी नहीं हो सकते। पुराणों में जो कुछ महापुरुषों के उपसर्ग सुनने में आये, किसी किस्म का पूर्वजन्म का विशेष पाप का उदय था जो विपाक में आया है, पर ऐसा उपसर्ग सहकर, ऐसे दु:ख में रहकर तपश्चरण करके आत्मसाधना करके सिद्ध होने वाले थोड़े ही जीव हैं, यों समझिये कि करोड़ों में एक। और बड़े आनंद रस में तृप्त होने वाले उपसर्ग से भी दूर रहने वाले ऐसे पुरूष रहे हैं अनेक। तो समझिये कि आत्मध्यान में प्रभुभक्ति में लग करके हम आपको न लौकिक कष्ट रहने का है और न पारलौकिक कष्ट रहने का है। और हो भी उपसर्ग, कष्ट, तो भी वह अनुभव में न रखेगा। इससे एक ही निर्णय है कि प्रभुभक्ति और आत्मध्यान यही शरण है। तो हे प्रभो ! आपके चरणद्वय की शरण में ये सब भक्तजन आये हैं वे आपके स्नेह से नहीं आये हैं, किन्तु यह संसार विचित्र दु:खों का घर है, बस यही कारण है जो आपकी शरण में आये है।

श्लोक 2

क्रुद्धाशोविषदष्टदुर्जयविषज्वालाबलीविक्रमो।
विद्याभेषजमन्त्रतोयहवनैर्याति प्रशतिं यथा।
तद्वत्ते चरणारूणाम्बुजयुगस्तोत्रोन्मुखानां नृणाम्।

विघ्ना: कायनिकायकाश्च सहसा शामयन्त्यहो विस्मय:।।२।।

(३८) प्रभुचरणद्वयस्तवनोन्मुख पुरूषों के विघ्नों का शमन—हे प्रभो! आपके चरणद्वय की स्तुति में सन्मुख हुए प्राणियों के विष और रोग आदिक शीघ्र ही दूर हो जाते हैं, इसमें रंच भी विस्मय नहीं है। जो विष बड़े क्रुद्ध भयंकर विषैले साँपों से डसे हुए और असहाय विष की ज्वाला की पंक्तियों का जो तेज है वह विद्या, औषधि, तन्त्र, मंत्र, जल, हवन आदिक से शान्ति हो जाता है, शरीर की प्राप्ति में जीव के भावों का कुछ सम्बंध हैं कि नहीं ? है। जीव के खोटे भाव होते हैं तो उनके फल में खोटे देह मिलते हैं। जैसे कीट, पतिंगा, नरक आदिक देहों के प्राप्त होने का कारण क्या है ? जीव के खोटे परिणाम। और जीव के विशुद्ध परिणाम हों, संयमरूप परिणाम हों तो जीव को देव स्वर्गादिक के शरीर प्राप्त होते हैं, और जीव के यदि धर्म रूप परिणाम हों, आत्मा के स्वभाव में लय होने के परिणाम हों तो शरीर सदा के लिए मिट जाता है, तो जब शरीर की उत्पत्ति में बहुत कुछ कारण सम्बन्ध अविनाभाव नियम यथा तथा की बात आत्मा के भावों के साथ देखी जाती है तब देह निरोग हो, देह रोगी हो, क्या इसका सम्बंध जीव के भावों के साथ नहीं हो सकता ? हो सकता है। जीव के परिणाम विशुद्ध हों, अपने आप के धर्म की और लगे हुए हों तो उन परिणामों के निमित्त से बड़े से बड़े भयंकर रोग विघ्न भी शान्त हो जाते हैं।

(३९) प्रभुस्वरूपस्मरण की शरण्यरूपता—सच तो यह है कि प्रभु के स्वरूप के स्मरण का शरण ही वास्तविक शरण है। वहाँ रंचमात्र भी तो संकट नहीं रहता। प्रभुस्मरण की शरण छोड़कर मोहीजन अपना दिमाग श्रम लगाकर बाह्य यत्नों में खूब जुटते हैं, जुटें। यदि कुछ लाभ होता है तो वह पूर्वकृत धर्मसेवन का फल है। वर्तमान में यदि भाव विशुद्ध होते हैं तो उसके प्रताप से वहीं बहुत से पाप रस समाप्त हो जाते हैं, पुण्य रस की वृद्धि होती है। समस्त समृद्धियाँ उपस्थित होती है और हो चाहे न हों वैभवसमृद्धियाँ इज्जत प्रतिष्ठा आदिक, लेकिन विशुद्ध परिणामों के कारण तत्काल आत्मा में शान्ति प्राप्त होती है। जिसका प्रारम्भ ही खराब है, लोग कहते हैं कि वह कार्य क्या पार पड़ेगा। और जिसका प्रारम्भ अच्छा है उस कार्य में पार पा लेने की आशा रखी जाती है। तो आत्मस्मरण, प्रभुस्मरण का कार्य ऐसा है कि इसका प्रारम्भ ही शान्तिप्रद है। शान्ति के साथ ही तो प्रभुस्मरण होता है। प्रभुस्मरण का वहाँ प्रारम्भ है उसके आगे सभी कार्य भले होंगे। सब कुछ हमारा भविष्य हमारे विचार और हार्दिक भावों पर निर्भर है। जिसका मन वश में नहीं है उसको सर्वत्र परेशानी है, जिसने ज्ञानबल से अपने मन के वश किया है उसको कही परेशानी नहीं है। अपना सब कुछ कार्य अपने आप में ही पड़ा हुआ है। सब कुछ लूट लो, अपने में भली

बातें पैदा करो, बुरी बातों का परिहार करो। चाहे दुर्गति में जाने का सर्टिफ़िकेट ले लो, चाहे सदगति में जाने का सर्टिफ़िकेट ले लो, सारे कार्य इस निज कार्यालय में ही सिद्ध हो जायेंगे। बाहर कुछ बात ही नहीं है। तो प्रभु के स्वरूप स्मरण के प्रसाद से प्रभु के चरणद्वय की स्तुति के उन्मुख हुए पुरूषों को कोई भी संकट हो सब समाप्त हो जाते हैं। वे प्रभु के दो चरण कौन से हैं ? वे हैं ज्ञान और दर्शन। और हम क्या चरण ढूँढ़े जब केवल ज्ञानपुंज है प्रभु, ज्ञान ज्योतिर्मय है प्रभु ? और दूसरे का नाम प्रभु नहीं। जो शरीर भी कभी रहता है, अरहंत के तो रहता है ना, तो वह शरीर प्रभु नहीं, शरीर के अंगोपांग प्रभु नहीं, प्रभुता उनकी आत्मा में है और ऐसे प्रभु आत्मा के सम्बंध से उनका शरीर भी लोक में पूज्य हो गया है, पर प्रभु तो वही है ज्ञानानन्दपुंज। उस ज्ञानानन्द प्रभु के चरणद्वय हैं- ज्ञान और दर्शन। सामान्य चैतन्य, विशेष चैतन्य। तो चरणद्वय की स्तुति की इसका अर्थ क्या ? क्या पैरों की स्तुति की ? यह प्रभु की स्तुति करना कहलाता है।

(४०) महात्माओं के विनय प्रसंग में पादद्वय के विनय की प्रथा का कारण—जब किसी भी बड़े पुरूष की विनय की जाती है तो लोग चरण छूते है। क्यों चरण छूते हैं ? चरणों से अच्छा तो मस्तक है। मस्तक को लोग क्यों नहीं छूते ? पर चरण छूने का भाव यह है कि शरीर के समस्त अंगों में छोटा अंग है चरण। लोक व्यवहार में भी ऐसा माना जाता है। किसी मनुष्य के यदि हाथ मार दिया तो वह उतना बूरा न मानेगा। जितना बुरा पैरों से मारने पर मानेगा। क्योंकि पैरों को बुरा माना है, निम्न अंग माना है। और पैर निम्न हैं भी। सबसे नीचे के अंग हैं। पैरों से नीचे और शरीर की क्या चीज है ? किसी को अगर लात मार दी तो वह इतना अपमान महसूस करता है कि भव-भव तक भी उस बात को वह नहीं भूल सकता। सुकुमाल मुनीश्वर को जो स्यालियों ने भखा तो वहाँ क्या था ? किसी पूर्व भव में सुकुमाल के जीव ने अपनी भाभी को लात मारी थी। उस भाभी ने उससे इतना अपमान महसूस किया था कि भव-भव तक संस्कार उसका रहा और कई भवों के बाद सुकुमाल मुनीश्वर के भव में उस भाभी ने स्यालिनी के रूप में जन्म लेकर वहाँ दो तीन दिन घोर उपसर्ग किया। पैरों को जंघाओं को चीर डाला, मांस खा डाला, क्या यह उन पर कोई कम उपसर्ग था ? तो पैरों से मारना यह लोग बहुत हल्की बात समझते हैं, सब अंगों में पैर सबसे नीचे छोटे अंग माने गए हैं। तो जिस बड़े के प्रति हम आप विनय करते हैं वहाँ तुरन्त तो यह नहीं सोचते कि बड़े के शरीर का जो सबसे खोटा खराब अंग है उसको हम छूते हैं, उसकी हम विनय करते हैं, ऐसा कहकर तो कोई विनय नहीं करता, लेकिन मर्म उसका यही है। और उस विनय में इतना भाव बढ़ता है कि उन चरणों को पवित्र कहा जाता है। जैसे मुझे इन पावन चरणों को छू लेने दो, ये मेरा

उद्धार कर देंगे। उनमें पवित्र का भी विशेषण लगा है। तो यह विनय की प्रगति है। प्रभु विनय किया जा रहा है कि हे प्रभो ! तुम्हारे चरणकमलद्वय की स्तुति में सन्मुख हुए मनुष्यों के समस्त विघ्न, समस्त रोग शान्त हो जाते है।

(४१) भक्तिप्रभाव का एक दृष्टांत –वादिराजमुनि के समय की बात है। वादिराजमुनि बहुत विद्वान् थे, जिनको स्तवन में इस प्रकार गाया गया है-वादिराज मनु शाब्दिकलोको, वादिराजमनु तार्किकसिंह:। वादिराजमनु काव्यकृतस्ते, वादिराजमनु भव्यसहाय:। कितनी बड़ी उनकी प्रशंसा की गई। जितने भी वैयाकरण लोग हैं, संस्कृत के जितने धुरन्धर विद्वान् है वे सब वादिराज का अनुसरण करने वाले हैं, जितने भी दार्शनिकों में श्रेष्ठ हैं, बड़े न्याय के दिग्गज विद्वान् हैं वे सब वादिराज के पीछे हैं। वादिराज के अनुचर, अनुसारी हैं, और जो जो कुछ भव्यों को सहाय हैं वे सब वादिराज के पीछे हैं। यह बात वादिराज के समय की कही जा रही है। इतनी उत्कृष्ट महिमा जिन वादिराज के सम्बन्ध में गायी गई है वे वादिराज मुनि एक नगर के पास जंगल में ध्यान कर रहे थे। वे बहुत ही धुरंधर विद्वान् थे, अत्यन्त शान्त थे, किन्तु उनके सारे शरीर में कोढ़ था। उन्हीं दिनों राजदरबार में यों ही गप्प छिड़ गई, लोग अपने-अपने गुरूओं की तारीफ करने लगे, तो एक जैन से भी न रहा गया, वह भी खड़ा होकर अपने गुरूओं की प्रशंसा करने लगा। जैन गुरु निर्ग्रन्थ दिगम्बर, निरारंभ, निष्परिग्रह, समता के पुंज, रागद्वेष से दूर है, जिनका दर्शनमात्र ही सगुन है, ऐसे होते है जैनगुरू। तो किसी सभासद ने खड़े होकर कहा कि महाराज ! हम जानते हैं जैन गुरूवों को, जैसे होते हैं, वे कोढ़ी होते हैं। तो वह जैन श्रावक पुन: बोला कि हमारे गुरु कोढ़ी नहीं हैं। यद्यपि वह चूक गया, कह देता कि कोढ़ी हों तो क्या, न हों तो क्या ? यह शरीर ही तो साधु नहीं है। साधु तो आत्मा है। आत्मा की पवित्रता देखो-सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् विश्वास से पवित्रता मानी जाती है, लेकिन भक्ति के आवेश में वह कह तो गया। तो उस सभासद ने कहा-महाराज ! कल इसकी निगरानी कर लीजिए। पास के ही जंगल में इनके साधु महाराज बैठे हैं, देख लीजिए कोढ़ी हैं कि नहीं। राजा ने दूसरे दिन निगरानी करने का तय किया। अब वह श्रावक उदास होकर घर आया। स्त्री कहती है कि आज तुम उदास क्यों हो ? तो श्रावक बोला कि आज हमसे एक बड़ा अपराध हो गया है। जैनधर्म की अप्रभावना का मैं कारण बन गया हूँ। इससे बढ़कर अपराध और क्या हो सकता है ? स्त्री बोली – आखिर बात क्या है ? तो श्रावक ने सारी बात उससे कह सुनाई। तो गृहिणी धैर्य देती है कि तुम चिन्ता मत करो। धर्म के प्रसाद से, धर्म की श्रद्धा से, विशुद्ध भावों से सारे विघ्न दूर हो जाते हैं। आप तो वहीं श्री वादिराज मुनिराज के पावन चरणों में जाकर भक्ति करो। वह श्रावक गया शाम के समय। स्तुति की,

उदास हुआ, कुछ अश्रुबिन्दु आये। कृपालु मुनिराज पूछते हैं कि ऐ भक्त क्या बात है ? तो उस श्रावक ने बड़े दु:ख के साथ अपने अपराध को दुहराया। तो मुनिराज बोले – बस इतनी सी ही बात पर तुम दु:खी हो गए। अच्छा, घर जावो। चला आया वह श्रावक घर। बस रात्रि के समय में वादिराज मुनि ने भगवान जिनेन्द्र देव का जो स्तवन किया वह अद्वितीय है। उन्हें उस समय प्रज्ञ कवि होने से तुक, गण, मात्रायें आदि मिलाने की आवश्यकता न थी। तो उन्होंने एकीभावनामक जो स्तोत्र रचा है। उसका भीतरी मर्म, भीतरी रचना कैसी है, यह तब ही समझ में आता है जब कि उसका आध्यात्मिक मर्म भी साथ ही साथ जानेगे। और तब ही उनकी विद्वता का दिग्दर्शन होता है। स्तवन करते करते एकीभावस्तोत्र में जब वे मुनिराज चतुर्थ काव्य की रचना करते हैं, जिसमें लिखा है कि – प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्, पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्। ध्यानद्वारं मम रूचिकर स्वान्तगेहं प्रविष्टस्तत्कि चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि। इसी की एक झाँकी हिन्दी काव्य में इस तरह है-आये न देवलोक से थे आप यहाँ पर, तो भी हुआ था देश सर्व संपदा का घर। जब ध्यानद्वार से हृदय मंदिर में बुलाते, मम संपदा दिलाने में क्यों देर लगाते। अर्थात् जब आप स्वर्गलोक से यहाँ न आये थे तब भी यह सारा भूमंडल स्वर्णमय हो गया था, और जब हम ध्यान के द्वार से हृदय के मंदिर में आपको बिठाये हुए है, एक तो अंतर कि तब तो आप थे स्वर्ग में और यहाँ हैं मेरे हृदय में, और दूसरा यह अंतर कि तब तो हुआ था देश नगर समर्पना का घर और हम यहाँ चाहते हैं केवल यह कि मेरी ही खुद की जो शक्ति है, जो निधि है, बस वह प्रकट हो जाय। हे प्रभो ! हमारी मांग भी कितनी छोटी है और प्रयत्न कितना बड़ा है। वहाँ तो कुछ भी प्रयत्न न था। आप स्वर्ग में थे और मांग बहुत बड़ी थी, साढ़े दस करोड़ रत्न चाहिये थे। और यहाँ प्रयत्न तो ऐसा है कि ध्यानद्वार से हम आपको अपने हृदय स्थल में विराजमान कर दें, और चाहते हम यह हैं कि हमारे ही अंदर जो हमारी खुद की निधि है वह प्रकट हो जाय। पर हे नाथ ! आप इसमें भी देर लगाते हो, अब देर न लगावो नाथ ! इस संस्कृत काव्य में यह कहा है कि जब आप स्वर्ग में आये न थे उससे भी पहिले यह सारा पृथ्वी मण्डल आपने स्वर्णमय बना दिया था, अब यहां ऐसे हृदय में मैंने आप को बिठाया है जिसे मैंने ज्ञानजल से धोकर अत्यन्त पवित्र किया है, जो हृदय आपके विराजमान किये जाने लायक है, तो ऐसे पवित्र हृदय में बैठाया है तब इसमें क्या आश्चर्य है कि जो आप मेरे शरीर को स्वर्णमय बना दें। बस इस ही भक्ति के प्रताप से उन वादिराज मुनि का सारा कोढ़ मिट गया और अत्यंत कांतिमय, देदीप्यमान उनका शरीर हो गया। तुरंत ही उन मुनिराज को ख्याल हो आया कि ओह ! जिसने कहा था कि जैन गुरु कोढ़ी होते हैं उसके ऊपर कोई विपदा न आ जाय, यहां मेरे कोढ़ को न देखकर कहीं

उसकी फाँसी न दे दी जाय, सो यह सोचकर उन्होंने अंगूठा और अनामिका इन दोनों अंगुलियों से तर्जनी को अच्छी तरह भींच लिया था ताकि उस जगह का कोढ़ मत मिटे। जब दिन हुआ तो बहुत से नागरिक लोग उमड़े हुए चले आये। बड़ा कौतूहल था। आज एक बहुत बड़ा निर्णय होना था। और ऐसा बड़ा निर्णय कि जिसमें धर्म की हँसी और अप्रभावना से भी सम्बन्ध था और साथ ही किसी की जान जाने तक का भी सम्बन्ध था। जब राजा पहुंचा मुनिराज के पास, तो देखते ही आश्चर्यचकित हो गया, मुनिराज के चरणों में लोट गया, बड़ा पवित्र बना और स्तवन करके जब जरा कटाक्ष से किसी पुरूष को ढूंढने लगा-तो मुनिराज बोले-महाराज ! अब क्या क्रोध लाते हो ? देखो हमारी अनामिका अंगुली में कोढ़ है। जिसने कहा था कि जैन गुरु कोढ़ी होते हैं उसका भी कहना सत्य है, और जिसने कहा का कि जैनगुरू कोढ़ी नहीं होते हैं उसका भी कहना सत्य है।

(४२)ज्ञानबल से मन का नियन्त्रण करके, कष्ट सहिष्णु होकर धर्मामृत पान का कर्तव्य—तो यहाँ कहने का प्रयोजन यह है कि अपने भाव यदि विशुद्ध हों तो रोग और विघ्न सब शान्त हो जाते हैं। और यदि नहीं भी शान्त होते हैं तो क्या बात है ? धर्म के खातिर सहज कुर्बान होना सीख लो, प्राण जायें जायें पर शिवमार्ग पाना सीख लो। जिस धर्म का फल यह है कि सदा के लिए संकटों से छूट करके शुद्ध पवित्र बन जायेंगे, कृतार्थ हो जायेंगे उस धर्म के लिए तो दुनिया के समस्त उपद्रव, जैसे-निर्धनता, अप्रतिष्ठा, असम्मान, क्षुधा, तृषा आदिक, इन सबको बराबर सह लेना चाहिए। जिसको धर्म में लगन है उसको उन समस्त संकटों के सहते हुए भी कष्ट नहीं मालूम होता। शान्ति कहाँ से प्रकट होती है ? अपने आत्मा से ही। शान्ति का धाम यह निजी अंतस्तत्व है। उसका कोई शरण गह रहा हो, अपने आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का ध्यान रख रहा हो और उसे कष्ट मालूम हो ऐसा हो नहीं सकता। ज्ञानबल से मन को काबू करने की जरूरत है। दो चीज़ें है आपके पास-ज्ञान और मन। (स्वरूप भेद की बात की जा रही है) आप ज्ञान को मित्र बनावें, ज्ञान को बल दें, ज्ञान को अंगीकार करें, और उसके समक्ष मन की उपेक्षा करें। मन चाहता है किसी वस्तु से राग करने का, तो तुरंत मन को मार दीजिए। हमें नहीं करना है राग, यह परवस्तु है। मनचाहता है किसी चीज के खाने का, तो इस मन को मार दें, अरे हमें नहीं खाना है उस चीज को। स्वाद में क्या धरा है ? सब असार बातें है। मन चाहता है कि अमुक रूप को देखना है, सिनेमा देखना है तो तुरंत मन को मार दीजिए-हमें नहीं देखना है। तो ज्ञानबल से जो पुरूष इस मन पर काबू पा लेते हैं वे पुरूष विषयी हैं। यद्यपि यह एक द्वंद है मन का और विवेक का, उस द्वंद में चल रहे हैं, पर प्रतीति तो यह रखिये कि हमें ज्ञान का हौसला बढ़ाना है, मन का पक्ष नहीं लेना है। प्रभु के चरणद्वय का

स्तवन क्या ? प्रभु के स्वरूप का स्तवन। प्रभु का स्वरूप है ज्ञान दर्शन। तो ज्ञान दर्शन गुणों का जो स्तवन है वही प्रभु के चरणों का स्तवन है।

(४३)अद्भुत निमित्तनैमित्तिक प्रसंग—हे प्रभो ! जो मनुष्य आपके स्वरूप के स्मरण में रत रहते हैं उनको विघ्न रोग ये नहीं सताते, शान्त हो जाते है। जैसे कि किसी क्रुद्ध आशीविषधर सर्प ने किसी को डस लिया हो व उस डसे गए पुरूष के शरीर में विष की ज्वालायें फैल रही हों, नशाजालों के रूप में, रंगों के रूप में विष की ज्वालायें अग्नि की तरह धधक रही हों और गर्मी, संताप की ज्वाला भी जल रही हो। इतना बड़ा तेज विकराल विष विक्रम भी विद्या से, औषधि से, यंत्र मंत्र से, जन हवन आदिक से शान्ति को प्राप्त हो जाता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध का भी जरा स्वरूप देखियेगा। जिस पुरूष के शरीर में विष छाया हुआ है वह पुरूष तो दूर है, और कितने ही तो ऐसे सुने गए हैं कि जिस पुरूष को मंत्रवादी ने कभी देखा भी नहीं, किसी अन्य पुरूष ने उसके पास जाकर समाचार दे दिया कि अमुक जगह अमुक पुरूष को सर्प ने डस लिया है, तो वह मंत्रवादी वहीं से अपने घर में बैठा हुआ ही कुछ मंत्र जपता है या कोई तंत्र करता है और वहाँ उस पुरूष का विष दूर हो जाता है तो जब इतनी दूर रहने वाला मंत्रवादी कहीं दूर रहने वाले पुरूष के देह में व्यापे हूए सर्प के विष को दूर कर देता है तो फिर जिस आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होकर यह शरीर रह रहा है वह आत्मा यदि अपने भाव शुद्ध बनाये, प्रभु का स्मरण करे तो प्रभुभक्ति के प्रसाद से समस्त विघ्न, समस्त रोग दूर न हो सके, यह कैसे हो सकता है ? अर्थात अवश्य ही वे सब रोग दूर होंगे।

(४४)निमित्तनैमित्तिक और स्वतन्त्रता का अविरोध—यहाँ निर्णय तत्त्व की बात यह है कि ये सब निमित्तनैमित्तिक भाव हैं, इतने पर भी देख लो – कितनी विचित्र घटना है कि मन्त्रवादी का हाथ पैर तन, मन, वचन, वाणी कुछ भी बाहर नहीं गया। वह सब कुछ अपने में उद्यम कर रहा है अपने में भाव भर रहा है, शुद्ध भाव कर रहा है, प्रभुस्मरण कर रहा है, जिस प्रकार का ऋद्धि तंत्र उसके पास है उस तरह अपनी भावना कर रहा है और बाह्य पदार्थ में उस पुरूष में विष का दूरीकरण हो रहा है। देखो दोनों जगह आत्मा का स्वतंत्र परिणमन है, वहाँ विष का जो कुछ बन रहा है वह उसके परिणमन से बन रहा है तो निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी वस्तु की स्वतंत्रता देखिये- कैसी अनोखी है। यहाँ भी प्रभु के चरणस्मरण स्तवन के प्रसाद से विघ्न दूर होना, रोग दूर होना आदिक बातें हो जाती हैं। बाहर में जिसका जो परिणमन हो, वह उसके परिणमन से है, इस आत्मा में जो कुछ स्तवन, प्रभु भजन का परिणमन है वह इसके परिणमन से है। निमित्तनैमित्तिक भाव भी है और यह अनोखी स्वतंत्रता भी है। दोनों का एक साथ

रहनें में भी विरोध नहीं।

(४५)सर्वक्लेशमुक्ति के लिये प्रभुभक्ति का समर्थ सहयोग—यहाँ शान्तिभक्ति में जिसमें शान्ति भगवान का मुख्य लक्षण करके स्तवन किया जा रहा है- कह रहे हैं कि हे प्रभो ! तुम्हारे चरणकमल युगल की स्तुति के सम्मुख हुए प्राणियों का विघ्न और रोग जल्दी ही शांत हो जाता है, यह एक विस्मय की बात है। धनंजय कवि ने कहा है कि लोग रोगशान्ति के लिए विषापहारमणि को ढूंढने जाते है औषधियों को ढूँढ़ते है, रसायन खोजते हैं, मंत्र खोजते हैं, तंत्र करना चाहते हैं। अरे ये सब भगवान के गुणस्मरण के ही पर्यायवाची शब्द हैं। भाव देखियेगा अर्थात प्रभुस्मरण के प्रताप से सहसा वे सब काम बनते हैं जो विषापहार मणि यंत्र, मंत्र, तंत्र, औषधि, हवन आदिक से हुआ करते हैं। प्रभुभक्ति के समान इस लोक में मेरे उद्धार के लिए कोई दूसरा कार्य नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रभुभक्ति का भाव उमड़ता ही तब है जब उपासक विषय-राग से हटकर वीतरागभाव में रूचि करता है। सो विषयराग से हटना और वीतरागभाव में आना यह स्वयं मंगल लोकोत्तम व शरण है। इस ही शरण्य भाव की पुष्टि वीतराग स्तवन में है। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की भक्ति से सर्व विघ्न शान्त होते हैं।

श्लोक 3

संतप्तोत्तमकांचनक्षितिधरश्रीस्पर्द्धिगौरद्युते।
पुंसांत्वच्चरणप्रणामकरणात्पीडा: प्रयान्ति क्षयम्।।
उद्यदभास्करविस्फुरत्करशतव्याघातनिष्कासिता।
नानादेहिविनोचनद्युतिहरा शीघ्र यथा शर्बरी।।3।।

(४६)प्रभुचरणप्रणमन से पीड़ाओं का क्षय—हे गौरद्युते ! श्रेष्ठांग प्रभु ! तुम्हारे चरणों में प्रणाम करने से प्राणियों की पीड़ायें सब नष्ट हो जाती हैं। शांतिनाथ प्रभु के देह को स्वर्णमय, कान्तिमय, देदीप्यमान बताया गया है। जिनकी दीप्ति कैसी है ? जैसे कि अग्नि में तपाये गये स्वर्ण की शोभा है अथवा जैसे सुमेरूपर्वत की शोभा है, ऐसी अनुपम दीप्ति वाले हे प्रभो ! तुम्हारे चरणों के प्रणाम करने से प्राणियों की पीड़ायें क्षय को प्राप्त होती हैं। जैसे कि सूर्य का जब उदय हो रहा है तब उदयागत सूर्य की किरणों के घात से ऐसी रात्रि नष्ट हो जाती है जो रात्रि अनेक प्राणियों के नेत्रों की भी द्युति हर लेती है, इसी प्रकार हे प्रभो ! आप के चरणों के प्रणाम करने से, चरणों में नम्र होने से समस्त पीड़ायें शान्त हो जाती है। इस चीज को अध्यात्मतत्व के रूप से भी निरखिये-शुद्ध अंतस्तत्व ज्ञानमात्र जिसकी द्युति एक अनुभव में लायें तो उससे

एक स्वच्छ प्रतीति होगी। ज्ञान का वर्णन जब भी किया जाता है साहित्य में तो स्वच्छता से किया जाता है। और वह स्वच्छता सम्यग्दर्शन के कारण हुई है, अतएव वह स्वच्छता एक रूचि के रंग में विराजती है। रूचि और ज्ञान, सम्यक्त्व और ज्ञान, इनके मेल से जिनका वर्ण गौर है, स्वच्छ है, ऐसे हे शुद्ध ज्ञायक अंतस्तत्व! तुम्हारे चरण हैं ज्ञानदर्शन। उनमें प्रणाम का करना यही कहलाता है कि यह उपयोग झुक गया। नम धातु का अर्थ झुकने में है, यह पुरूष उनके चरणों में नम गया और यह डाली फलों के भार से नम गयी ऐसा लोग कहते भी हैं। तो नम का अर्थ है झुकना। तो जिसका उपयोग इस ज्ञान दर्शन शुद्ध स्वरूप में झुकता है उसको पीड़ा कोई रह ही नहीं सकती है।

(४७)कृतकृत्यता के भाव में ही शांति का अनुभव—संसार के अन्य प्रयत्न तो ऐसे हैं कि शान्ति के लिए लोग करते हैं तो शान्ति मिल पाये अथवा न मिल पाये, यह कोई नियम नहीं है। अथवा बाह्य यत्न से तो शान्ति मिलती ही नहीं है। बाह्य यत्न करने पर भी जो कुछ भी शान्ति मिलती है, जो कुछ भी पीड़ा का शमन होता है वह कृतकृत्यता के अंश से होता है। मेरे करने को अब यह काम नहीं रहा इस प्रकार की कृतकृत्यता का जो आंशिक अनुभव है उससे सुख मिलता हैं। विषयों के प्रसंग में भी जब जब भी थोड़ी बहुत शान्ति सी महसूस की जाती है वह विषयों की प्रवृत्ति के कारण नहीं, किन्तु उस प्रसंग में भी जिस क्षण जितने अंश में कृतकृत्यता का अनुभव है उतने अंश में शान्ति है। किसी भी कार्य में ले लो। समाजसेवा, देशसेवा, गुरूसेवा आदिक इन समस्त कार्यो में जब-जब भी कुछ शान्ति का अनुभव होता है तो वह आत्मविश्राम के अंश के कारण होता है, बाह्य की लगन में तो ऐसी प्रकृति पड़ी है कि वह नियम से क्षोभ उत्पन्न करें। तो यहाँ यह पूर्ण नियम है कि जो उपयोग ज्ञान दर्शन के शुद्ध स्वरूप में झुकेगा, ऐसा झुकेगा कि झुककर उसी में मिल जायगा, इतना झुके कि अपने आधार में एक रस हो जाय, फिर कहीं कुछ पीड़ा है क्या ?

(४८)शान्ति का एकमात्र उपाय सम्यक ज्ञान—ज्ञान के समान सुख का, शांति का कारण अन्य कुछ हो ही नहीं सकता। है ही नहीं। दूसरी बात कोई लाये कहाँ से ? जहाँ ज्ञानघन निज अंतस्तत्व का यथार्थ रूप से ज्ञान हो रहा है उस उपयोग में दु:ख है कहाँ ? यदि दु:ख है तो समझो कि अभी ज्ञान में ज्ञान नहीं हो रहा, अभी विकल्प में हैं। विकल्प से दु:ख है। और विकल्प मेटने का उपाय है निर्विकल्प अखण्ड ज्ञानमात्र अपने स्वरूप का ज्ञान। यही उत्कृष्ट दशा अपनी सहाय होगी। अन्य कुछ भी अपना सहाय नहीं है। एक निर्णय का बड़ा बल होता है। खूब खोज कर लो किस कि लगन से किन पदार्थों के सम्बंध से आत्मा पर क्या प्रभाव होता है ? खूब परख करके पक्का निर्णय बना लीजिए कि आत्मा को शान्ति का

कारण केवल यही भाव है कि यह ज्ञान आत्मा के सहज ज्ञानस्वरूप का ज्ञान करता रहे। यही शरण होगा, इसी से पूरा पड़ेगा। अन्य किसी दूसरी बात से पूरा नहीं पड़ सकता।

(४९)लौकिक सावधानियों में परमार्थत: सावधानी का अभाव—यहाँ जितनी जो सावधानी हैं वे वस्तुत: असावधानी हैं। किन लोगों को क्या बताने के लिए, किन लोगों को क्या दिखाने के लिए अपने स्वरूप के स्पर्श से बहिर्गत होकर विकल्पों में उलझ गए हैं। कोई कुछ सज्जन हो तो वह अपनी अच्छी करतूतों के कारण अच्छी क्रियायें करके, अच्छा विकास बनाकर, अच्छे आचरण से रहकर, बड़े प्रियहित वचन बोल कर लोगों में अपना कुछ बताना चाहता है। तब देखिये-जैसे विष की एक बूँद जल में पड़ जाय तो वह सारा जल खतरनाक हो जाता है इसी तरह हम खूब व्रत, तप, करें, अच्छे आचरण से रहें, अपनी प्रगति का काम जो कुछ बने करें, पर साथ में यदि यह भाव है कि लोग समझ जायें कि यह भाई बहुत अच्छा काम कर रहे हैं तो इतना भर भाव लाने से समझो सारी खराबी आ गई। इन मायामय प्राणियों से अपने आपके बारे में कुछ महिमा चाहने का भाव यदि मन में है तो समझो कि सारे व्रत, तप, आचरण अच्छी तरह रखते हुए भी जल में विष की बूँद मिल जाने की तरह का हाल हो गया।

(५०) ज्ञानी की अनात्मतत्व के प्रति प्रणमन की अप्रवृत्ति—काम तो यह चाहिये कि ज्ञानदर्शनात्मक जो निज आत्म का स्वरूप है उस स्वरूप में ज्ञान बना रहे। अब इस कार्य का तो यह लोकेषणा दुश्मन है। लोग मुझे समझ जायें कि यह भाई कितने अच्छे है इस तरह की बात बताने के लिए अपनी प्रवृत्ति रखना यह तो बड़ी गंदी भीख है। लोगों से रोटी मांग कर खा लेना यह उतनी गंदी बात नहीं हैं, लेकिन उन दु:खी कर्मकलंकित, जन्ममरण के प्रेरे भटकने वाले मोही प्राणियों से चाहना, एक तो यह खराबी फिर दूसरी बात-ये मुझे अच्छा समझे इस प्रकार की चाह करना, इक यह खराबी। यह बात यदि कणिकामात्र भी चित्त में है तो प्रभु के चरणों में प्रणाम नहीं बन सकता। प्रणाम के मायने झुकना। तो लोगों से कुछ चाहने वाला पुरूष लोगों में झुके कि भगवान में ? वह तो लोगों में ही झुका मायने मोह में झुका। मोह और वीतरागता इनका तो परस्पर में विरोध है। जो पुरूष अपने स्वरूप का परिचय पाकर यह एतावन् मात्र है, यह चैतन्यमात्र है, इसमें दूसरा लपेट कुछ नहीं है, ऐसा जिसने अपने आपका निर्णय किया, प्रतीति की, उसके कभी यह भाव नहीं जग सकता कि इन लोगों में मैं कुछ अपना रुतबा दिखाऊँ, कुछ बात बताऊँ। उसके लिए जब यह ज्ञान सामने पड़ा हुआ है कि यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है, अनगिनते असंख्याते योजनों प्रमाण है इतनी ही दुनिया से तो मेरा सम्बन्ध नहीं। यहाँ से मरे, न जाने कहाँ पैदा हो, फिर क्या रही यहाँ की बात ? तो फिर यहाँ किससे क्या चाहना ? यद्यपि श्रावक अवस्था में

कीर्ति सम्पादन का भी उपदेश किया गया है किसी दृष्टि से उसका इतना ही मतलब है कि लोक में आबरू रहेगी तो बुरा काम करने से हिचक रहेगी। इतना ही मात्र उसका फल है, और इससे आगे तो सारा विष ही विष है, लेकिन जो इस अन्तस्तत्व के अभ्यास में भी सावधान हो गया है ज्ञानभावना कर करके, खोटी बातों के लिए उसका चित्त न चाहेगा, उसको फिर दुनिया में अपनी कुछ कीर्ति बने उसकी रंचमात्र भी इच्छा नहीं होती।

(५१) ज्ञानी के इज्जत की चाह के न होने का चिन्तन-क्या करेगा कोई मेरे आत्मा का ? ये मोही प्राणी प्रसन्न भी हो जायें हम पर तो क्या कर देंगे ? कर क्या देंगे, ये तो मुझे विपत्ति में ही डाल देंगे। इन मोहियों के सम्पर्क से अपने आत्मा के सुधार की बात सोचना, यह तो विष पीकर जीने की बात सोचने की तरह है। माता-पिता प्रसन्न हो जाते हैं बच्चे पर तो बच्चे का क्या करेंगे ? विवाह करा देंगे, दूकान करा देंगे, उसको सारी बातें भी सिखा देंगे चालाकी की, इस तरह कमाना चाहिये, यों कहना चाहिये। प्रसन्न होकर प्राय: लोग यही तो करते हैं। और क्रुद्ध हो जायेंगे तो क्या करेंगे? उसको कुछ भी देंगे नहीं, चाहे वह कैसी ही तकलीफ सहे, पर उसकी कुछ भी पूछ न करेंगे। तो ये मोही प्राणी प्रसन्न होंगे तो भी विपत्ति देंगे। यहाँ किससे क्या चाहना ?

लोक में इज्जत बनाना नियम से खतरे से भरा हुआ है। हां, न चाहते हुये भी इज्जत होना, वह एक सहज परिणमन की बात है। पर उसमें भी यदि आकांक्षा है तो वह भी खतरे वाली चीज है। इज्जत बढ़ाते-बढ़ाते मान लो देश के राष्ट्रपति हो गए, प्रधानमंत्री बन गए तो उनके खतरे कितने हैं सो लोग अखबारों से जानते हैं, कुछ समझकर भी जानते हैं। वे सुखी हैं क्या ? शान्त हैं क्या ? वे शान्त नहीं हैं, संतुष्ट नहीं हैं, रही दुनियावी इज्जत, सो यह दुनिया, ये दुनिया के लोग स्वयं मायामय हैं, दु:खी हैं, अपरमार्थ हैं, इन्द्रजाल हैं। यहाँ की इज्जत से क्या लाभ उठाया ? जो पुरूष महा भक्तिभाव से इस ज्ञानदर्शनात्मक सहज परमात्मदेव के दोनों चरणों में अपना उपयोग झुकाकर प्रणाम करते हैं, समस्त पीड़ायें उनकी शांत होती हैं दूसरे की नहीं।

(५२)अकेले पर क्षोभमय प्रवर्तन—कुछ भी करे यह जीव, रहता तो अकेला का ही अकेला है। हज़ारों राजाओं में भी यह जीव अपनी इज्जत बना रहा है, पर यह तो है अकेला का ही अकेला । परिवार जनों के बीच यह बड़ा बड़प्पन महसूस करके मौज मान रहा है, पर है तो यह अकेला का ही अकेला। जो कुछ बात बन रही, बीत रही इस पर वह अकेले से अकेले में बीत रही। इसका साथी दूसरा नहीं है, और परख करके देख लो जीवन में, शांति का उपाय क्या है ? एक धर्म और आस्तिक्य, परलोक के नाते से

भी नहीं कह रहे, किन्तु यहीं पर एक परख करने के लिए कह रहे कि शान्ति का कौनसा उपाय बनता है? जो जितने उपन्यास आजकल छप रहे हैं उनमें जो वर्णन है वहां प्रारंभ से लेकर अंत तक, क्षोभ क्षोभ का ही वर्णन है। कहीं लूटमार की चतुराई, कहीं दुराचार की चतुराई, यों क्षोभ भरी घटनाओं के रुचियाँ हैं उनके पढ़ने वाले लोग, तभी तो वे उन घटनाओं को बड़े चाव से पढ़ते हैं। तो वे उपन्यास तो कागजों पर ही लिखे हुए हैं, पर उन उपन्यासों के पढ़ने वाले रुचियाँ जन स्वयं उपन्यास की जीती जागती मूर्ति है। इन उपन्यास रुचियाँ पुरूषों की सारी क्रियायें उनके सारे परिणमन क्षोभ ही क्षोभ से भरे हुए हैं। क्यों भरे हैं कि ६ बातों से अपना सम्पर्क लगाया है इन मोही जीवोंनेरूप, रस, गंध, स्पर्श,शब्द और इज्जत। इन ६ कामों को छोड़कर ७ वां काम कौन सा ये मोही प्राणी कर रहे हैं सो तो बताओ ? और ये सभी चीज़ें हैं पर में।

(५३)इज्जत का हाल—इज्जत नाम किसका सो तो बताओ ? रुप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये तो प्रकट पर मालूम हो रहे हैं। एक थोड़ा सा इज्जत के सम्बंध विचार करो कि क्या चीज है ? पर चीज है या स्व चीज है ? इज्जत कहते किसको हैं ? कुछ लोग इस प्रकार की प्रवृत्ति करें या वचन बोले उसका नाम है इज्जत । यह तो हुई द्रव्य इज्जत और इस प्रकार की अपने आप में कल्पना कर ली यह है भाव इज्जत । दोनों ही परतत्व हैं। दूसरे की इच्छा, दूसरे का परिणमन, दूसरे की प्रवृत्ति, वह तो दूसरे की है। कोई किसी के आधीन नहीं है दूसरे की खुशामद कर करके भी थक जावो, पर उसकी इच्छा में आयगा तो प्रिय वचन बोल देगा, न आयगा तो न बोलेगा। बच्चे की कोई कितनी ही खुशामदें करे कि ऐ बच्चे एक गिलास पानी दे दे, पर उसके मन में आ गया तो दे देता है, नहीं तो खेलने के लिए भग जाता है, पर ये मोही प्राणी ऐसे हैं कि मुझे पूछे चाहे न पूछे, पर हम तो तेरे ही लिए मर रहे हैं। मान न मान, मैं तेरा महिमान। कोई किसी को नहीं मान रहा, सब अपनी आशा से, विषय से, कषाय से, परिणति से अपना परिणमन कर रहे है। पर ये मोही प्राणी मानते हैं कि ये मेरे लिए ये सब कुछ कर रहे हैं, मेरी ही चाह से सब कुछ कर रहे हैं। बस बन गया स्नेह का बन्धन और बन गया पीड़ाओं का ताँता।

(५४)स्नेह के बंधन की विडम्बना—कहीं किसी गुरु के पास कुछ शिष्य पढ़ते थे, उनमें से एक शिष्य दो दिन बाद आया, तो गुरु ने पूछा कि तुम दो दिन अनुपस्थित क्यों रहे ? तो वह शिष्य बोला-'सगाई हो रही थी। तो गुरु बोला-'अब तुम गाँव से गए।' तो समझ लो जब किसी की सगाई हो जाती है तो जिस गाँव में होती है वहीं उसका चित्त घूमता है। अब अपने गाँव घर के आदमी कुछ नहीं नजर आते। फिर

कुछ दिन बाद वही शिष्य दो तीन दिन बाद आया तो गुरु ने पूछा-दो तीन दिन तक क्यों अनुपस्थित रहे ?'तो वह शिष्य बोला-' मेरी शादी हुई है' तो गुरु ने कहा-'अब तो तुम घर से भी गए।'

सो देख लो-जब शादी हो जाती है तो लोगों को अपने घर के लोग अच्छे नहीं लगते-ससुराल के साला साली वगैरह ही उन्हें अच्छे लगते हैं। कुछ दिन बाद गृहिणी घर आ गई। उस प्रसंग में अनुपस्थित रहने पर गुरु ने कहा कि अब तो तुम अपने माँ-बाप से भी गए। तो ऐसा है यह स्नेह का बंधन । इसका प्रारंभ तो हो। प्रारंभ हुआ कि फिर सम्हलना कठिन हो जाताहै। जैसे बरसात के दिनों में चिकनी मिट्टी वाली जगह पर जरा सा पैर का फिसलना प्रारम्भ तो हो, फिर उसका सम्हलना कठिन हो जाता है। वह रपटकर गिर ही जाता है, ऐसे ही स्नेह का बन्धन प्रारंभ तो हो, फिर सम्हलना कठिन हो जाता है। अगर पहिले से ही सम्हला हुआ रहे तब तो ठीक है, नहीं तो थोड़ा सा भी स्नेह का प्रारम्भ हो जाने पर फिर सम्हाल नहीं हो पाती, और वह स्नेह बहुत बड़ी बरबादी का कारण बन जाता है। उसे फिर अपने विशुद्ध अंतस्तत्व की उपासना का अवकाश ही कहाँ मिल सकता है ? जैसे मेढकों को कोई तोले तो एक मेढक वह तराजू पर रखेगा तो दूसरा उछल जायगा, फिर कोई मेढक तराजू पर रखेगा तो और कोई मेढक उछल जायगा, यों मेढकों का तोलना कठिन है, इसी प्रकार स्नेहों का शमन करना कठिन है। यदि एक स्नेह का शमन किया तो संस्कार में पड़े हुए अन्य स्नेह सामने आ खड़े होंगे। यों स्नेहों का उपशमकरनाकठिन हो जायगा।

(५५)जीवन का एक निर्णय—अब स्व और पर का यथार्थ निर्णय करके अपने जीवन में एक निर्णय बनाना है कि मेरे को करने के लिए केवल एक ही काम है-शुद्ध सहज ज्ञानस्वभाव को ज्ञान में लिए रहना। जीवन केवल एक इसी कार्य के लिए पाया। गृहस्थावस्था में रहकर चाहे कितने ही झंझट सामने आ जायें कुछ भी करना पड़े पर इस बात को न भूलें। इष्टवियोग अनिष्टसंयोग आदिक हर स्थितियों में एक इस सहज ज्ञानदर्शनात्मक अंतस्तत्व को ज्ञान में लिए रहें। मैं तो अकेला ही हूँ बाहर में मेरा कहीं कुछ नहीं है, किसी पर से मेरा कुछ भी सुधार-बिगाड़ नहीं है, इस प्रकार का एक अपना दृढ़ निर्णय होना चाहिए। आप इस बात को खूब सोच लें कि जिन इष्ट पदार्थों का संयोग हुआ है उनका कभी वियोग न होगा क्या ? अरे वियोग अवश्य होगा और उनके पीछे आपको बहुत दु:खी होना पड़ेगा। इससे अभी से ही जरा ज्ञान बनाकर ऐसा चित्त बना लें कि मेरे लिए जगत में इष्ट कुछ भी नहीं है। इस प्रकार का सही निर्णय कर लेने से आप इस जीवन में भी चैन से रहेंगे और मरण समय भी चैन से रहेंगे। तो काम एक यही करने

का है, पर कर रहे है काम दूसरे के ही दूसरे। जो काम उदय के अनुसार स्वत: ही हो रहे हैं आपके करने से नहीं हो रहे उनमें तो हम आप रात दिन अपना उपयोग लगा रहे हैं और जो काम स्ववश है,

जिसे खुद के ही द्वारा किया जाना है ऐसे काम को करने का हम आप कुछ उत्साह ही नहीं करते, तो यह कितनी मूढ़ता भरी बात है? यह अपना काम, ज्ञान भावना, अपने को सहज ज्ञानमय अकेला निरखना, यह सब किये जाने पर नियम से सफलता है। किसी अन्य से मेरा रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। और किसी से संपर्क है तो वह मेरी बरबादी का ही हेतुभूत है। कोई मेरा शत्रु नहीं है, इस प्रकार के निर्णय के साथ अपने को ज्ञानमात्र रूप में भावें, देखे, समझें, प्रतीति करें, यह ज्ञान ऐसा है कि स्वाधीन है ओर इस भावना के लिए जाने पर नियम से सफलता है।

(५६)ज्ञानघन परमात्मतत्व की उपासना का कर्तव्य – अब हमारा मुख्य कर्तव्य क्या है इसके निर्णय में लग जायें। मैं सहज जैसा हूँ बस वैसा ही मैं अपनी निगाह में रहूं, समझूं। मैं इतना ही मात्र हूँ। बस यही उद्धार का मूल उपाय है। जानने की तो चेष्टा सबकी होती है। जब कोई व्यक्ति बाजार से कुछ चीजें लेकर घर पहुंचता है, तो चाहे लाया हो वह लोहे के पेंच पुर्जे अथवा कोई मशीनरी चीजें, पर घर के बच्चे लोग उस मेले के अंदर क्या चीज लाये हैं ऐसा देखने व जानने के लिए दौड़ते है, बिना ज्ञात किए उन बच्चों को चैन नहीं पड़ती । तो जब बच्चे लोग भी उस थैले के अन्दर रखी हुई चीज को जाने बिना चैन नहीं मानते तो फिर हम आपको भी अपनी ऐसी प्रकृति बनानी चाहिए कि अपने इस शरीर थैले के अंदर क्या चीज रखी हुई है इसको जाने बिना चैन न मानें। इस देह थैले के अंदर जो एक पावन तत्त्व रखा हुआ है उसे तो देख लीजिए। उसके देखने के बाद यह विश्वास हो जायगा कि मेरा तो यह मैं इतना ही हूँ और मेरी सारी ऋद्धि सिद्धि यही है। इस एक सही निर्णय के कारण फिर दुनिया में कोई पीड़ा नहीं हो सकती। पीड़ा तो इष्टवियोग व अनिष्टसंयोग में होती है। जब यह निर्णय हो चुका कि मेरा इस दुनिया में अन्य कुछ है ही नहीं तो फिर उसकी समस्त पीड़ायें अपने आप शान्त हो जाती हैं। हे प्रभो! हे स्वर्णमय कान्तिमान, देदीप्यमान, गौरद्युते ! आपके चरणद्वय में नमस्कार करने के प्रसाद से प्राणियों की समस्त पीड़ायें क्षय को प्राप्त हो जाती है।

श्लोक 4

त्रैलोक्येश्वरभंगलब्धविजयादत्यन्तरौद्रात्मकान्,

नानाजन्मशतान्तरेषु पुरतो जीवस्य संसारिण:।

को वा प्रस्खलतीह केन विधिना कालोग्रदावानला-

न्न स्याच्चेत्तव पादपद्मयुगलस्तुत्यापगावारणम्।।4।।

(५७) काल का उग्र दावानल—संसारी प्राणियों को यह आयु क्षय, यह यमराज अपनी मृत्यु अग्नि से भस्म कर रहा है। इस यम का, इस आयुक्षय का संसार के जीवों पर कितना विचित्र प्रभाव पड़ा हुआ है कि देखो अनेक जीव तो एक श्वास में १८ बार जन्ममरण करते हैं, कीड़े मकोड़े ३ दिन, ७ दिन अथवा ४० दिन तक अधिक से अधिक जीवित रहते हैं इसके बाद वे नियम से नष्ट होते हैं। और पशु-पक्षी मनुष्य इन सबकी आयु का भी कुछ विश्वास तो नहीं, जब चाहे नष्ट हो जाते हैं। इस आयु क्षय को किसलिए इतनी रौद्रात्मकता बन गयी, एक मौज और स्वच्छंदता से अपना काम विस्तार करने की वृत्ति बन गयी कि इसने तीन लोक के बड़े-बड़े राजा महाराजाओं को नष्ट किया है, और उससे जो इस आयुक्षय ने विजय प्राप्त की है, इस यमराज ने जो एक अपनी लोक में स्वच्छंद विहार रूप विजय पायी है उस विजय से अत्यन्त रौद्रात्मक हो गया। आयुक्षय के प्रति अलंकार रूप से वर्णन किया जा रहा है। इस काल से इस संसार के कोई प्राणी नहीं बचे। नहीं बचे सो ठीक ही है, क्षण-क्षण में, सेकेण्ड-सेकेण्ड में कुछ ही दिन में ये मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। सो हे नाथ ! यदि आपके चरणकमल की स्तुति जो कि आपदावारण की तरह है, विघ्न निवारण की तरह है, अर्गला पटने की तरह है, यदि यह आपके चरणकमल का स्तवन ध्यान न होता तो इस यम के विकराल पंजे से फिर कौन बचाता ?

(५८) काल के उग्र दावानल से बच निकलने का हेतु प्रभुचरणस्तवन—एक तो अन्य जीवों की अपेक्षा इस मनुष्य जीवन में अथवा कभी देवगति का जीवन पाया तो वहाँ जहाँ अच्छी जिन्दगी के साथ आयु लगी हुई है विशेष, तो यह सब धर्म का ही तो प्रताप है। धर्म में रूचि हुई, प्रभु का ध्यान हुआ तो ऐसी अवस्थायें मिलती हैं कि जिन में कुछ सुख साता और विशुद्ध भाव परिणति पूर्वक जीवन कुछ विशेष रहता है। हे प्रभो ! यह सब आपके ही चरणों के स्तवन का तो प्रताप है। दूसरे-इस काल के पंजे से सदा के लिए भी बच निकलता है जीव तो उसका भी कारण यही प्रभुभक्ति है। प्रभुताभक्ति, स्वरूपभक्ति, नित सहज आत्मतत्व की लीनता, यदि यह आपदावारण न होता, अर्गला हटाने वाली चीज न होती तो कौन इस

काल के पंजे से बच जाता ? हे प्रभो ! इस यम से, इस जन्म मरण के चक्र से बचाने वाला आपका चरणस्तवन है।

(५९) शान्ति के अर्थ परवस्तु के सम्पर्क के त्याग की अनिवार्यता—जीव को चाहिये क्या ? शान्ति। अब वह शान्ति इन व्यर्थ के ऊधमों में मिलती है या आत्मस्मरण से मिलती है इसका भी तो निर्णय कर लीजिये। मोही जीवों के चित्त में यह छाया हुआ है कि मेरा जीवन, मेरा गुजारा, मेरा सुख सब कुछ इस गृहस्थी पर निर्भर है, इन बच्चों पर निर्भर है। यह ध्यान में नहीं लाते कि अकेले थे, अकेले जायेंगे। और इस काल भी तो तू अकेला ही रह रहा है। अपने इस अकेलेपन की भावना से जब यह जीव हटता है तो यह व्यर्थ के ऊधम मचाता है याने मोह रागद्वेष करता है और दु:खी होता है, जन्ममरण की परंपरा बढ़ाता है। मैं ऐसा मार्ग पाऊँ कि परविषयक मोह परिणाम, राग परिणाम, स्नेह परिणाम ये मूलत: समाप्त हो जायें, उस उद्यम में लगना है। मनुष्य जो भी यत्न ठान लेना है, करते-करते उस यत्न में वह सफल हो जाता है। देख लो यहीं व्यवहार के काम। जिस काम में लोग लगते हैं उस काम को कुछ न कुछ निभा लेते हैं जबकि वह काम अपने नियंत्रण के अंतर्गत नहीं है कि मेरी इच्छा से, मेरे यत्न से वह काम पूरा हो ही। जब अनियंत्रित बात पर भी हम आप अपने कुछ उद्यम से सफल हो जाते हैं तो फिर अपने आप की बात में, जिस पर कि हमारा वश चल सकता है उसको करने में क्यों सफल नहीं हो सकते ? अवश्य सफल हो जायेंगे। शत प्रतिशत यह बात निर्णीत है कि परवस्तु का स्नेह इस जीव के लिए दु:ख का कारण है।

(६०) परवस्तु के परिणमन से आत्मा की हानि के अभाव का दिग्दर्शन—कोई बात ऐसी होती है कि दु:ख से बात बनती है तो बनो- दु:ख सहना ही पड़ेगा, उस बात के बनाये बिना काम न चलेगा, मगर ये संसार की बातें ऐसी नहीं हैं कि इनके बिना काम न चलेगा। मान लो नहीं है अनेक मकान, नहीं है ऐसी जायदाद तो इस जीव का काम न चलेगा क्या ? जीव का काम है यह कि ऐसा बोध रखना, ऐसी जानकारी करना कि जिसमें आकुलता न हो। जिन बातों की कल्पना करके दु:खी होते हैं उन बातों के विषय में ठीक-ठीक तो सोचो। वैभव की हानि में ये मोहीजन हानि समझते है। सो वैभव की हानि में तो हानि क्या ? शरीर की भी हानि हो जाय तो भी उससे जीव की हानि नहीं है। यदि स्वभाव दर्शन पाया है, आत्मा का जो सहज परमात्मस्वरूप है उस पर यदि अधिकार पाया है तो कुछ भी विनसो, इस जीव की उससे कुछ हानि नहीं है। उसका यत्न करना चाहिए। और रहा मोही लोगों का वातावरण, जहाँ बैठते हैं, जहाँ निकलकर जाते हैं, जिनके बीच गुजरते हैं उनकी करतूतों का भी प्रभाव न पड़ सके, ऐसा विशिष्ट

ज्ञानाभ्यास चाहिए तब यह काम बनेगा। तो चाहिए शान्ति, और शान्ति प्राप्त होने का उपाय भी यह है कि आत्मा को विविक्त जानें, अकेला समझे। सबसे निराला केवलज्ञान मात्र, आनंदघन अपने आत्मस्वरूप को समझें। यदि कल्पित सब कुछ मिट जाय तो भी इस का क्या गया ? घर गृहस्थी धन दौलत, संतान, स्त्री अथवा माता-पिता, सारे परिग्रह, सब मित्रजन, ये सब अत्यंत पर हैं। रंच भी तो सम्बंध नहीं है, वे समस्त पर पदार्थ यदि बिखरते हैं, विघटते हैं तिस पर भी अपने पर दुष्प्रभाव न आये, समझिये इसके लिए कितने ज्ञानाभ्यास की जरूरत है।

(६१) धर्मपालन का परिचय—लोग तो धर्म के नाम पर मंदिर आ गए, हाथ जोड़ लिए, पूजन कर लिया, एक दो पेज कोई पुस्तक पढ़ ली, बस यह सन्तोष करके लौट जाते हैं कि हमने बहुत धर्मपालन कर लिया। और ऐसा भ्रम बनाया है खुदने भी और दूसरे लोगों ने भी तो इसी कारण जब उस पर कोई विपदा आती है, इष्टवियोग होता है तो यह विह्वल हो जाता है और लोग उसकी हँसी करते हैं और कहते हैं- 'देखो यह इतना तो धर्म कर रहा था, बड़ा धार्मिक है, फिर भी कितना विह्वल हो रहा है, कितना पागल हो रहा है। इसको कौन समझाये ?' अरे भाई वह धर्मात्मा था कब ? उसने धर्मपालन किया कब ? जैसे राग में किसी बात की धुन होती है, कोई काम करने की धुन, देशसेवा करने की धुन, तो जैसे उस धुन में लग जाता है ऐसे ही राग में इसको दर्शन, पूजा, जाप आदिक की धुन लग गयी तो उसने अपने राग की धुन निभायी, धर्मपालन नहीं किया। धर्मपालन तो परिणम यह है कि कठिन से भी कठिन स्थितियाँ आ जायें, वैभव घट जायें, कोई हानि हो जाय, इष्टवियोग हो जाय अथवा अनिष्ट संयोग हो जाये, तिस पर भी उसके ज्ञान में यह स्पष्ट रहता है कि लो यह परद्रव्य यहाँ था वहाँ चला गया। हम तो जान ही रहे थे कि जो कुछ मिला है, जो कुछ समागम प्राप्त है वह तो विघटने का है। सो जिसके जानने में यह सम्भावना समझ रहे थे वह बात हमें और दिख गई। जिसका चिन्तवन हम भविष्य में परिणति होने की कर रहे थे और इस दृष्टि से हम उस जानकारी का साकार रूप रखने की प्रतीक्षा कर रहे थे, ऐसा होगा, वह बात यहाँ अभी दिखने में आ गयी। ज्ञानी पर इसका असर नहीं होता। धर्मपालन यह है।

(६२) धर्मपालन की एक झाँकी – अपनी आत्मा की विविक्तता का इतना दृढ़ अभ्यास हो कि बाह्य के इष्टवियोग आदिक का अपने आप पर प्रभाव न पड़ सके। अध्यात्मगोष्ठी, आत्मतत्व चर्चा, इस विविक्त सहज स्वभावमात्र अपने आपकी प्रतीति करना, इसकी ही जहाँ चर्चा होती हो। मान लो ऐसी शास्त्र सभा है जिसमें शामिल होकर विवेक चिन्तन यथार्थ लगाकर अपने आप में ज्ञान सुधारस का पान किया जाता हो ऐसी शास्त्रसभा कोई एक श्रोता किसी दिन लेट आया, आधा घंटा देर में आया। एक घटना की बात

मन में रख करके सुनो। आया वह श्रोता देर में। शास्त्र समाप्त होने के बाद वक्ता पूछता है कि भाई !आज आपको शास्त्रसभा में आने में देर कैसे लग गयी ? तो वह श्रोता बोला-आज हम एक मेहमान को विदा करने के लिए गए थे, उसमें देर लग गयी । सभी श्रोतावों को उस घटना का पता था। क्या हुआ था कि उसके इकलौते पुत्र का मरण हो गया था। उसकी दाह क्रिया करने वह गया हुआ था, जिसके कारण शास्त्रसभा में आने में आधा घंटा देर हो गयी थी- तो अब उसके शब्दों को देखिये उसने क्या कहा था ? आज हम एक मेहमान को विदा करने के लिए गए थे इससे देर लग गयी। ज्ञानबल के कारण उस पर प्रभाव कुछ न पड़ा । भैया, जब सम्यक्त्व होता है, जब यथार्थ प्रतीति होती है तो उस पर इन बाहरी परिणतियों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह तो अपने ज्ञान की बात है। अपनी दृष्टि और अभ्यास की बात है। जहाँ पदार्थों का स्वतंत्र–स्वतंत्र स्वरूपास्तित्व ज्ञात होता है, फिर मोह नहीं रहता।

(६३) ज्ञानी की निर्मोहता पर मोहियों को अविश्वास और विस्मय होने की प्राकृतिकता—ज्ञानी की निर्मोहता पर मोहीजन विश्वास न कर सकेंगे कि ऐसा भी कोई दिल होता है क्या कि बाह्य में कुछ भी घटनायें बन जायें और उनका चित्त पर प्रभाव न पड़े ? मोही लोग अचरज करेंगे तो करें, पर ऐसा हुआ है, इसको ज्ञानी पुरूष ठीक समझ जाते हैं। अचरज करने की बात तो ऐसी है कि सज्जनों की चेष्टा पर दुर्जन लोग अचरज करते हैं, दानियों की चेष्टा पर कंजूस लोग अचरज करते हैं, तपस्वियों की चेष्टा पर विषयासक्त लोग अचरज करते हैं। अचरज की बात से फैसला नहीं होता है। होते हैं ज्ञानी पुरूष ऐसे कि जिन पर कठिन से कठिन उपद्रव आ जायें, इष्ट-वियोग हो जाय तो भी उनके चित्त पर रंच भी प्रभाव नहीं होता। एक उक्ति है कि कोई एक कंजूस पुरूष किसी सड़क से जा रहा था। एक सेठ अन्न, वस्त्र, भोजन, धन आदि अर्थियों को, भिखारियों को खूब दान दे रहा था। उस कंजूस ने जब वह दृश्य देखा तो उसके दिल पर बहुत बड़ी ठेस लगी-ओह कैसा लुटाया जा रहा है ? और उसके सिरदर्द हो गया, वह वहीं से घर लौट आया। उसे दु:खी देखकर स्त्री कहती है-'नारी पूछे सूमसे, काहे बदन मलीन। क्या तेरो कुछ गिर गयो, या काहू को दीन।। हे पतिदेव ! आप आज इतना दु:खी क्यों हैं ? क्या आपका आज कुछ गिर गया है या आपने आज किसी को कुछ दे डाला है? तो वह कंजूस पुरूष बोला-'ना मेरो कुछ गिर गयो, ना काहू को दीन। देतन देखा और को, तासौ बदन मलीन। हे पत्नी जी ! मेरा कुछ गिर नहीं गया है और न मैंने किसी को कुछ दे डाला है, पर मैंने दूसरे को धन लुटाता हुआ देख लिया है जिसके कारण आज हमारा बदन मलीन हो गया । तो दानियों की चेष्टा पर कंजूस लोग और तपस्वियों की चेष्टा पर

विषयलोलुपी कामी लोग अचरज किया करते है। तो ज्ञानियों की चेष्टा पर अज्ञानी भी विस्मय किया करते है।

(६४) ज्ञान की शुद्ध दिशा में गति का प्रताप-विधिपूर्वक ज्ञानाभ्यास करके ज्ञान होने की बात तो अमोघ होती ही है, लेकिन अनेक लोग ऐसे मिलेंगे कि शास्त्रोक्त ढंग से ज्ञान की बात नहीं सीखी है, किन्तु संस्कार और प्राकृतिकता से ऐसा हृदय बना हुआ है कि कितना ही इष्टवियोग हो, कितना ही टोटा हो, कैसी ही बाह्य में परिणति हो, उसका उन पर प्रभाव ही नहीं पड़ता। तो ऐसा ज्ञान जिसने प्राप्त किया हो, वह अपनी शुद्ध आत्मभावना में रत होकर ऐसी विशुद्धि प्राप्त करता है, कि इस काल के पंजे से, इस जन्ममरण के चक्कर से यह सदा के लिए मुक्त हो जायगा। एक दिशा मोड़ने भर की जरूरत है। अपने उपयोग का मुख मोड़ने की जरूरत है। अभी उपयोग का मुख है पर पदार्थो के सामने । यहाँ से मुड़कर निज तत्त्व के समक्ष हो जाय उपयोग का मुख याने यह ज्ञान अपने आप में बसे हुए स्वरूप के जानने में लग जाय तो इसका संकट टले, कर्म टलें, बाधायें दूर हों, आकुलतायें समाप्त हों। संसार–संकटों से सदा के लिए पार हो जायेंगे। करने योग्य काम यही है।

(६५) मोह राग रूष दु:ख की खान—मोह राग द्वेष ये ही दु:ख की खान हैं, दूसरा कोई दु:खी करने वाला नहीं है। कोई वैभव की हानि में निमित्त पड़ गया तो मोहीजन उस पर क्रोध करते हैं, इसने मुझे इतने हजार का टोटा करा दिया। अरे एक तो उसने टोटा कराया नहीं, तुम्हारे ही विकल्प हैं, तुम्हारा ही उदय है और हो गयी हानि तो उस वैभव की हानि से तुम्हें क्लेश नहीं है, किन्तु तद्विषयक जो मोह राग लगा है उसके कारण दु:ख है। सो वह दु:ख तो रहेगा ही। वैभव मिट गया तब तू दु:ख मान रहा। और जब वैभव था तब क्या तुझे दु:ख न था? तब भी दु:ख था। राग के रहते हुए दु:ख कभी मिट ही नहीं सकता। क्योंकि राग के रहते हुए सुख की आशा करना व्यर्थ है। थोड़ा सा उसकी पद्धति में अंतर आया। वैभव के रहते हुए दु:ख की पद्धति और है, वैभव के मिटने पर दु:ख की पद्धति और है। दु:ख तो लगातार है, वैभव है तब भी दु:ख, वैभव जा रहा तब भी दु:ख। यह मानना भ्रम है कि जब मेरे पास वैभव था तब मैं सुखी था और अब वैभव न रहा तो मैं दु:खी हो गया। जब स्त्री, पुत्र, घर, माँ बाप थे तब मैं बड़े सुख से रहता था, अब मुझ पर बड़ा दु:ख हो गया। अरे तूने कभी सुखी होना सीखा ही न था। तब भी दु:खी था, अब भी दु:खी है। जब दु:ख और ढंग से मानते थे और उसमें सुख का भ्रम किए हुए थे। आज के दु:ख से

पहिले का दु:ख कठिन था। परिग्रह में, वैभव में, परिवार में, किसी के अनुराग में, जवानी में, बचपन में जब दु:ख भोग रहे थे और सुख मान रहे थे, वह कठिन दु:ख था। आज तो एकदम फैसला हो गया, बात एक और है, जानकारी ठीक बन गई है। खतरे का दु:ख तो नहीं है। पहिले दु:ख तो घोर खतरे का था, दु:ख कब न था ? सम्बन्ध में दु:ख ही दु:ख होता है। सम्बंध मिटने पर दु:ख के अभाव की आशा की जा सकती है, और यदि दिल से भी सम्बंध हट जाय तो निश्चित शान्ति है।

(६६) कालचक्र के चंगुल से बच निकलने की तरकीब—भैया ! बारबार के जन्मरण के चक्कर से यदि निकलना है तो ऐसा यत्न बनायें कि हमें जीना ही न पड़े, अर्थात इस काल के चक्र से, यम के चंगुल से सदा के लिए छूट जायें, इसका यदि कोई उपाय है तो हे भगवान ! आपके स्वरूप का स्मरण है। चीज जो है सो ही है, और सभी चीजें अपने आपके मूल में सहज जिस प्रकार से हैं उसी प्रकार से हैं। वह बात कहीं हट नहीं गई। वह सदा रहती है। तो उसका जो सहज स्वरूप है अपने आप जैसा जो कुछ उसका सत्व है वह भी है, मिट नहीं गया, स्वरूप में पड़ा है, अन्त: प्रकाशमान है, उसको निरख लें तो कल्याण पा लेंगे। और उसके निरखे बिना भैया, भतीजे, कुटुम्ब, परिवार, स्त्री, मित्र, रूप, रस, गंध, स्पर्श सुहावने लग रहे, मौज मान रहे, यदि ये सब बातें हैं तो उसका फल है जन्ममरण। यदि कालचक्र से छूटना है तो आवो प्रभु शरण में। और यदि कालचक्र के चंगुल में ही रहना है याने जन्ममरण करते रहने का ही काम यदि करना है तब फिर उसका तो धन्धा चल ही रहा है, मोह करें, राग करें, द्वेष करें, विषयों में ही रमें, इनमें ही सुख मानें, इनके ही बन्धन में रहे, ये उसके उपाय है, सो चल ही रहे है। निर्णय का बहुत बड़ा बल होता है। जो तत्त्व की बात हो, उसका एक बड़े उत्साह से, बड़ी परीक्षा से निर्णय तो कर डालें। उसमें कसर नहीं रखना हैं।

(६७) धर्म के दृढ़ अवलम्बन की मूल पद्धति—भैया! चित्त में बात न बैठी हो तो अभी और कोशिश करना है, समझना है और चित्त से ध्यान करना है कि प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने-अपने स्वरूप को लिए हुए है। त्रिकाल में भी एक का स्वरूप दूसरे में नहीं पहुंचता। एक दूसरे का कोई परिणमन नहीं कर सकता। एक दूसरे का कुछ कोई हो नहीं सकता। व्यर्थ का मोहभ्रम। तो इस स्वरूप निर्णय का वह बल है ज्ञानी के अन्तर में कि वह समस्त परिग्रहों से उपेक्षा रखता है। यही है धर्मपालन। इस तरह से धर्मपालन करे कोई धीरे-धीरे संतोष से विचार पूर्वक चिन्तना लाकर और भीतर में यह बात बैठ जाय कि निर्णय कर लें यही

उपाय है मुक्ति पाने का और मुझे तो मुक्ति प्राप्त करना है। दूसरी बात का मेरा लक्ष्य ही नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई सार बात ही नहीं। कुछ तथ्य ही नहीं। किसी भी परपदार्थ का मुझे रंच भी विश्वास नहीं है कि उनका प्रत्यय नहीं । यह मेरे कुछ काम आ सकेगा ऐसी बात किसी भी पदार्थ में पड़ी हुई नहीं है। मैं ही अकेला परिणमता हूँ भावरूप। भाव बनाता हूँ। मेरे ही उस भाव का निमित्त पाकर यहीं की पड़ी हुई अनन्त विस्रसोपचय रूप से जो कार्माण वर्गणायें है, कर्म बन जाती हैं, उनका उदय होता है तब होता है फल इसका जन्ममरण, अनेक शोक संकट से गुजरना पड़ता है।

(६८) शिवस्वरूप मुक्ति के लिये ही प्रगति करने का पूर्ण निश्चय—किसी भी पर से मेरा हित नहीं है, बरबादी ही है, इसलिए बाहर में मेरा कुछ प्रोग्राम नहीं । मेरा वास्तविक आन्तरिक दृश्य और कुछ न हो, ऐसा मेरा प्रोग्राम है। मेरा तो केवल एक मुक्ति का प्रोग्राम है। मुझे मुक्तिप्राप्त करना है। धीरे-धीरे लुढ़कते–लुढ़कते किसी भी प्रकार मेरा यह काम बने, पर मेरा एक यही प्रोग्राम है। जैसे जब यात्रा करते हैं और पहाड़ पर चढ़ते हुए, कदम बढ़ाते हुए एक निर्णय बना रखा है ना कि मुझे उस चोटी तक पहुंचना है, वहाँ चरण वंदना करना है। देर लग रही है, थक गए, बैठ गए, कभी-कभी पैर पीछे को भी लौटते, फिर भी आगे बढ़ते रहते हैं। एक दृढ़ निर्णय बना लिया ना कि मुझे तो यह काम करना है। कर डाली सारी वंदना और अपने घर लौट आये। प्रकृत में यह है सदा के लिए अभेद बनने का दृढ़ निर्णय, सच्चा प्रोग्राम । मुझे तो केवल मुक्ति प्राप्त करना है। सर्व विकल्पों से रहित होकर परिणमते रहना, लहराते रहना ऐसी स्थिति पाना है। और कुछ बात नहीं है हमारे प्रोग्राम में । यह निर्णय हो किसी के चित्त में, तो चाहे धन-वैभव की हानि हो, किसी इष्ट का वियोग हो अथवा अनिष्ट का संयोग हो, किसी भी बाहरी बात से वह कष्ट नहीं महसूस करता। वह जानता है कि काहे का कष्ट ? तो ऐसे अपने ज्ञानदर्शनात्मक चैतन्यस्वरूप के स्तवन में, अभेद उपासना में जो पुरूष लगा हुआ है वह पुरूष सदा के लिए इस कालचक्र के चंगुल से बच निकलता है और सदा के लिए निर्विकार आनन्दधाम, पवित्र और शान्त हो जाता है।

श्लोक 5

लोकालोकनिरन्तरप्रविततज्ञानैकमूर्ते विभो।

नानारत्नपिनद्धदण्डरूचिरश्वेतातपत्रत्रय।।

त्वत्पादद्वयपूतगीतरवत: शीघ्रं द्रवन्त्यामया:।

दर्पांध्मातमृगेन्द्रभीमनिननाद्वन्या यथाकुन्जरा:।।५।।

(६९) ज्ञानमूर्ति प्रभु के चरणस्तवन से रोगप्रक्षय—हे प्रभो ! आपकी पवित्र स्तुति से रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। आप का स्वरूप क्या है और उस स्वरूप के स्मरण से रोग नष्ट हो जाने का विधान क्यों है ? इस सम्बंध में यहाँ से ही प्रारम्भकरते है कि शरीर मिलता क्यों है ? इस आत्मा के भावों के ही जिस प्रकार के विभावों में रहने से आत्मा के शरीर रचते बनते हैं उन भावों का फल है कि शरीर बन रहा है। वे भाव यदि अत्यंत खोटे हैं तो उनका फल है कि खोटा शरीर मिलेगा। शरीर मिलने के बाद भी यदि खोटा परिणाम रहता है तो कुछ ही काल बाद शरीर में रोग व्याधियाँ अनेक आ जायेंगी। यदि परिणाम शुभ है, पवित्र हैं, पुण्यरूप हैं तो उनका परिणाम यह है कि शरीर उत्तम मिलेगा। शरीर मिलने के बाद भी परिणामों में विशुद्धता है, प्रभुभक्ति है, स्वरूप का ध्यान है तो उसके प्रताप से तत्काल तो अनुभव है ही स्वस्थता का और कालान्तर में रोग के क्षय का भी अन्तर आ जाता है। हे प्रभो ! लोक और अलोक में निरन्तर व्याप्त केवलज्ञान ही है एक मूर्ति जिनकी ऐसे हे शान्ति प्रभो ! नाना रत्नों से युक्त और सुन्दर गंधों से शोभित श्वेत तीन छत्रों से युक्त है मूर्ति जिनकी, ऐसे आपके चरणद्वय की स्तुति से रोग शीघ्र दूर होते हैं।

(७०)प्रभुदर्शन विधि—प्रभु को केवल ज्ञानपुंज के रूप में निरखने से प्रभु के दर्शन होते हैं। वह दर्शन अनुभवात्मक है। चक्षु से आगे कोई प्रभु दिख जाय, सामने हो ऐसा कोई दर्शन नहीं, किन्तु अपने अनुभव से ज्ञानमात्र आनन्दधाम स्वरूप की जो अनुभूति होती है वह है प्रभुदर्शन। जिस काल में प्रभु साक्षात विहार किया करते थे उस काल में भी प्रभु का दर्शन नेत्रों से न होता था। प्रभु शरीर सहित थे। शरीर के दर्शन हो गए, पर प्रभुता का दर्शन तो उस समय भी ज्ञानी विवेकी पुरूष ज्ञानज्योति के रूप में, ज्ञानानुभूति के रूप में दर्शन किया करते थे। वह ज्ञानतत्व स्वयं परसम्पर्क रहित है, रोगरहित है, पवित्र है, अमूर्त है। केवल जानन ही जिसका कार्य है ऐसे अमूर्त पवित्र ज्ञानमात्र स्वरूप को निरखने पर उपयोग निर्भार होता है और उसके प्रताप से ये रोग भी शीघ्र नष्ट होते है। उदाहरण में कहते हैं कि जैसे मदोन्मत्त सिंह के भयानक शब्द से वन के हाथी भाग जाते हैं, ऐसे ही आपके चरणस्तवन से अनेक रोग दूर हो जाते है।

(७१)स्वरूपसाक्षात्कारपूर्वक स्तवन की विशेषता—चित्त में प्रभुता का स्वरूप समाया हो तो उसको निरख करके जो स्तवन होता है वह स्तवन अंतस्तत्व को छूता हुआ होता है, और रूढ़िवश रटा रटाया है शुरू से अन्त तक बोल गए, उसके साथ भाव नहीं लगाये जा रहे है। चित्त कहीं और जगह है। तो यद्यपि वह भी इतना फल तो देता है कि श्रद्धा को बनाये है। श्रद्धा है तभी तो प्रभु के निकट आये है, पर कर्म विपाक ऐसा है, रागांश ऐसे लगे है कि जिन से चित्त किसी बाह्य पदार्थ की और लगा हुआ है। नहीं हो पाता है दर्शन, स्वरूप का अनुभव लेकिन श्रद्धा है, तो जो जितना मात्र विशुद्ध भाव है उतना फल मिलता है, पर वीतराग स्वरूप के दर्शन हों, अनुभव हो और उस वीतराग स्वरूप की भावना से जो भीतर में निर्मलता प्रकट होती वह बात ऊपरी क्रिया से नहीं बनती है इसका तो ज्ञान से सम्बंध है। लोक में वस्तुयें तो हैं सब जीव भी हैं बहुत से , कोई कीट है, पशु हैं, पक्षी हैं, मनुष्य हैं, तो ऐसे ही कोई जीव ऐसे भी हैं कि जो रागद्वेष रहित है जिनके ज्ञान में पूर्ण विकास आ गया है, और इसमें तो कोई सन्देह की बात नहीं। अचरज की बात तो अज्ञानी बनने को है।

(७२)ज्ञान विकास में विस्मय का अभाव—जो बात वस्तु में पड़ी है वही बात प्रकट हो, यह तो वस्तु के स्वभाव की बात है। उसमें विस्मय नहीं है। विस्मय है अज्ञानी बनने में, दु:खी होने में, जगत में रूलने में। जो बात जैसी है ठीक सही वैसी रहे तो इसमें आश्चर्य क्या है ?ज्ञान का स्वरूप जानने का है। और इस जानने के लिए यह आवश्यकता नहीं है कि सामने कोई चीज हो तब जान सकें। देखो अब भी मन के द्वारा भूतकाल की चीजों को जानते है। जो बात गुजरी उसका स्मरण करते हैं। १०- २०- ३०वर्ष पहिले की भी बातें कुछ तो जानते है। तो इस ज्ञान में यह कला तो है ना कि भूतकाल की बात को यह जान जाय। और यह भविष्य की बात को भी जानता है। सही न उतरे, अंदाज रूप से करे, मगर कला तो है इसमें कि भविष्य की बात को भी यह जाना करे। वर्तमान की बातों को जानता है, पीठ पीछे की भी बात जानता है यह मन, आगे पीछे की भी जानता है, भूत भविष्य की भी जानता है। तो जहाँ मन लगा है, विकृत अवस्था है वहाँ भी जब यह परिचय मिल रहा है ज्ञान का कि इसमें कला है ऐसी कि भूत भविष्य की बातों की जान जाय, दूर की, पीठ पीछे की बातों को जान जाय। जब इस ज्ञान से विकार आवरण, कर्म आवरण पूरा हट गया, तो एकदम स्वच्छ स्वतंत्र केवल रहता हुआ ज्ञान समस्त लोकालोक को जान ले, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

(७३)अविशिष्ट ज्ञान में शान्ति का साम्राज्य--देखिये सबको यह विशुद्ध ज्ञान जान लेता है याने सब कुछ आ गया ज्ञान में, पर वह सब सामान्य जैसा ज्ञान है। रागद्वेष न होने से, कुछ प्रयोजन न होने से, कुछ जानने में दिलचस्पी न होने से उनके किसी विशेष आकार, विशेष विकल्प, विशेष चीज को पकड़कर के नहीं रहता, अत: सत्य आनंद है साधारण ज्ञान में। विशेष ज्ञान में, विशेष परिचय में ज्ञान की विशेषता में शांति का घात है और ज्ञान की साधारणता में, अविशिष्टता में केवलज्ञान जान नहीं चल रहा है, उसमें पर पदार्थो की पकड़ नहीं है ,हो रहा है सबका ज्ञान, पर विकल्प नहीं है तो ऐसे ज्ञान से शांति का लाभ होता है। सामान्य का महत्व बड़ा है, सामान्य का विस्तार बड़ा है। शांति पथ में सामान्य का महत्व है, विशेष का महत्व नहीं। विशेष में, लगाव में हितरूपता नहीं। प्रभु का ज्ञान ऐसा साधारण होता है कि जाने हुए पदार्थ में से किसी भी पदार्थ की किसी से तुलना करने वाला, झुकाव वाला नहीं है, लगाव वाला नहीं है। ऐसा होता है प्रभु का ज्ञान। ये प्रभु राजा महाराजाओं की तरह होवें कि भक्तों को खोजें, भक्तों के प्रति लीला दिखायें, भक्तों का काम सम्हालें, भक्तों की लीलावों में शामिल हों, ये सब व्यवहार प्रभुता के नहीं, समता के नहीं, वीतरागता के नहीं। प्रभुस्वरूप तो केवल एक ज्ञानद्वारा सम्वेदन के योग्य है और व्यवहारता प्रभु से हम आपका कोई व्यवहार नहीं बन सकता। कितनी भक्ति हो, पर प्रभु से व्यवहार नहीं बनाया जा सकता।

(७४)मोहियों का निर्वाचित भगवान- जब प्रभु झुकें, आकर्षण करें, किसी के प्रश्न का उत्तर दें, किसी की बात सुनें तो मोहियों को वहाँ उत्सुकता होगी। अरे न उत्तर देने की बात रही, न सुनने क बात रही वहाँ अज्ञानी क्या करेगा इन्द्रियज ज्ञान तो है ही नहीं। अतीन्द्रिय ज्ञान है। आपके शब्द नहीं सुनते, आपकी बात चित्त में नहीं देते, आपका उत्तर नहीं देते भगवान, लोगों की ऐसे भगवान की ओर आकर्षण वृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ये मोही हैं। ऐसा स्वरूप सुनकर मोहियों को आनंद नहीं आ सकता। मोही तो तब आनंद मानते हैं जब प्रभु का स्वरूप ऐसा निरखते हैं कि प्रभु अपने भक्त का मुकदमा जितायेंगे, भक्त का प्रयोजन भी ये प्रभुसिद्ध कर देंगे, और अधिक भक्ति अगर भगवान की की गई तो भगवान अपने भक्त को दर्शन भी दे देंगे और उस भक्त को कुछ अपना बोल भी सुना जायेंगे। ऐसी बातें यदि भगवान के स्वरूप के सम्बंध में समायी हों तो मोहियों का आकर्षण है, लेकिन प्रभु का स्वरूप इस प्रकार का है नहीं।

(७५)ज्ञानैकमूर्तिकी भावना का परिणाम—प्रभु तो पूर्ण वीतराग और परिपूर्ण सर्वज्ञ हैं। ज्ञान और आनंद के

धाम हैं, शरीर रहित हैं। वह स्वरूप स्वयं रोगरहित हैं। जहाँ शरीर ही नहीं वहाँ रोग का कहाँ टिकाव है ?तो ऐसे शरीर रहित रोगरहित विकार रहित सर्वज्ञ, ज्ञानपुंज प्रभु को जो ध्यान में रखता है उसके समस्तरोग नष्ट हो जाते है। एक क्षण को भी इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ में उपयोग को लगाना यह इस जीव की बरबादी का हेतु है। और जीव के कल्याण को पूरा खतरा है। और इन्द्रिय विषयों की भी बात जाने दो, जान बूझकर किसी तत्त्व में भी उपयोग का लगाना यह भी उसकी तुरन्त ही एक हैरानी है। एक मात्र निज सहज अंतस्तत्व जिसके उपयोग में विराजा रहे उसके समान कोई अमीर नहीं। उसके समान कोई शान्त नहीं, वह अधिक ऋद्धि सम्पन्न है, किन्तु ऐसा होना बड़ी ज्ञानभावना के अभ्यास द्वारा साध्य हैं।

(७६) सहज ज्ञानस्वरूप की भावना में हित का प्रत्यय—मैं ज्ञानमात्र हूँ, शरीर तो मैं हूँ ही नहीं। शरीर को तो लोग यों जला देंगे जैसे सबके शरीर जलते हैं ऐसे ही यह मेरा भी शरीर जलेगा। शरीर मैं नहीं हूँ। शरीर को पकड़कर ग्रहण करके शरीर में उपयोग लगाकर, वासना बसाकर हम कौनसा अपना कल्याण पालेंगे ? शरीर मैं नहीं। मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। जो कुछ इस आत्मा पर विकार चढ़ा हुआ है वह विकार , रागद्वेषादिक भाव, ये कषायें, ये इच्छायें मैं नहीं हूँ। ये तो होकर नष्ट हो जाते है और इस आत्मा को जन्ममरण के ताँते में फंसना पड़ता है। इन विकारों रूप मैं नहीं हूँ। मैं हूँ एक सहज ज्ञानस्वरूप ।

(७७)देहप्रभावना का विकल्प तोड़कर ज्ञानभावना करने में कुशलता—भैया ! इस ज्ञानमात्र की भावना भाने का अधिकाधिक यत्न रखें। अब तक इस जीवने देहभावना ही की, जिस गति में गया, जिस देह को पाया सर्वत्र देह भावना ही की,यही मैं हूँ। मनुष्य हुआ तो यदि किसी भींत में हाथ लग गया और थोड़ा कलई का निशान आ गया तो वह भी अरूचिकर हो जाता है। उसको खूब अच्छी तरह से साफ करते हैं, और अपने सारे शरीर से उसका मिलान करते हैं कि मेरे सारे शरीर जैसा साफ हो गया कि नहीं। लोगों को वह कलई का जरा सा भी धब्बा सहन नहीं होता। इस देह को नहाने के लिए घंटों का समय लग जाता है। ऊपर फव्वारा खोलकर बड़ा मौज लेते हुए, बहुत-बहुत तेल साबुन आदि लगा-लगाकर घंटो तक लोग स्नान किया करते हैं और इस शरीर की सफाई करते रहनें में बहुत-बहुत समय गंवा देते है। पर जरा बताओ तो सही कि इस शरीर की ऊपर ही ऊपर सफाई करने से लाभ क्या मिलेगा? उस सफाई के करने से इस शरीर की अपवित्रता मिट जायगी क्या ? इस शरीर को पवित्र करने से कौनसी पवित्रता बनती है सो तो बनाओ ? गंदे विचार वालों को उस शरीर की अपवित्रता से ऊब आती रहती है, उनको

नहाना आवश्यक है। अपवित्र, गंदे खोटे विचारों में रहने वाले लोग किसी रूप से नहाकर थोड़ा सा मन भरते है कि अब शुद्ध हो गए, साफ हो गए, और ऐसे लोगों का नहाना आवश्यक है, लेकिन नहाने मात्र से क्या होगा ?

(७८)नहाकर भ्रम से पवित्रता मानने की अपवित्रता—अनेक लोग किसी नदी में, कुवें में अथवा समुद्र में जो यह सोचकर नहाते हैं कि इसमें नहाने से मेरे सब पाप धुल जायेंगे, मेरी सारी गंदगी धुल जायगी, तो ऐसा भी कभी हो सकता है क्या ?अरे इस तरह से यह गंदगी अथवा ये पापकर्म नहीं धुला करते। यह आत्मा अपने सत्वरूप है, अपने आप में भावों को करता है, भावोंरूप परिणमता है। इसके भावों की पद्धति में ही पवित्रता और अपवित्रता है। भावों की विशुद्धि की और दृष्टि होनी चाहिये । ज्ञानजल से स्नान करें, वहाँ पवित्रता बनती है। कहीं किसी नदी, कुवाँ अथवा समुद्र वगैरह में स्नान कर लेने से इस आत्मा में पवित्रता नहीं जगती। थोड़ा सा नहा लेने पर, कुछ बनावटी भाव बना लेने पर रास्ता क्या मिल जाता है, प्रभुध्यान करने के लिए कुछ गुंजाइस मिल जाती है ? मिलती है बिरलों को, लेकिनइसशरीरको बहुत-बहुत साफ करते और शरीर की सफाई देखकर अपनें में एक गौरव अनुभव करते है ना , यह तो कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। अरे ये तो भीतरी गंदगियाँ है। भावों की विशुद्धि से आत्मा की विशुद्धि है, देहकीसफाई से आत्मा कीविशुद्धि नहीं है।

(७९) विशुद्ध उपयोग होने की सारभूतता—विशिष्ट पुण्योदय हो, अपना भवितव्य उत्तम हो तब ही तत्त्व की बात सुनने, बोलने, समझने और अवधारणा में आती है। जिस ज्ञान से आत्मा की भलाई का मार्ग स्पष्ट हो जाता है, जिस पर चलकर यह जीव सदा के लिए संकटों से छूट जाता है ऐसे ज्ञान की वृत्ति पाना यह तो बड़े ऊँचे भवितव्य की बात है। और विशिष्ट ही पुण्य का उदय हो तब ऐसा उपयोग, ऐसा लगाव, ऐसा प्रवर्तन बनता है, इस ज्ञानमात्रस्वरूप की भावना के प्रसाद से सभी रोग शीघ्र ही क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, और शरीर में रोग रहे तो रहे, जब ज्ञानमात्र भावना में यह ज्ञानी जीव उपयुक्त है तो उसके ही तत्काल कुछ रोग है ही नहीं। उसका तो एक ज्ञान की ही ओर लगाव है। शरीर कोढ़ी है तो रहो, शरीर जिस हालत में है रहो। आत्मा को तो संसार के बन्धन से छूटना है। उसका छुटकारा देह शुद्धि से न होगा, किन्तु ज्ञान शुद्धि से होगा। जितना हम अपने को अपनायेंगे, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप का अनुभव करेंगे, उस ज्ञानभावना के प्रसाद से हम में निर्भारता बढ़ेगी और ये समस्त रोग दूर हो जाना फिर तो एक साधारण सी बात हो जायगी।

(८०) अद्भुत चमत्कारसम्पन्न आत्मा की भक्ति से रोग क्षय—जिस ज्ञान में इतना बड़ा चमत्कार पड़ा है, ६४ ऋद्धियाँ बताई है, जिन ऋद्धियों का वर्णन सुनकर के बुद्धि अचरज करती है-ओह ! ऐसी ऋद्धियाँ। शरीर जरासी देर में गायब हो जाय, शरीर छोटा बड़ा हो जाय। ऐसा वर्णन है कि ढाईद्वीप के अन्दर चाहे वह समुद्र की जगह हो, चाहे पर्वत की जगह हो, कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जिस जगह से जीव मोक्ष न गया हो। जहां हम आप बैठे हैं यहां से भी अनंत जीव मोक्ष गए। और एक कल्पना बनती है कि मेरू पर्वत की चोटी से मोक्ष कैसे गए होंगे, क्योंकि उस चोटी पर चढ़ा जाता नहीं, जिसके ऊपर स्वर्ग का विमान बसा हुआ है, केवल एक बाल भर का अंतर है। ऐसा जो उसके आस-पास के ४, ६, १० इंच के हेर फेर से उस जगह से जीव मोक्ष कैसे गए होंगे ? पर वहां से भी जीव मोक्ष गए। ऋद्धिधारी मुनि पर्वत के बीच से भी निकल जायें ऐसी ऋद्धियां जिनके प्रकट हुई हैं वे मुनि उस मेरूपर्वत से निकलते हुए जा रहे थे। जहां ही चोटी है उसी के सीध में वे नीचे से ऋद्धिधारी मुनि गुजरें, और वहीं उनका ध्यान बन गया, वहीं केवलज्ञान हुआ और तुरंत वहीं से मुक्त हुए। तो मुक्त होने पर आत्मा वहां से चला गया ना? रही बात यह कि फिर शरीर का क्या होता होगा ? अरे जीव चाहे जिस जगह से मोक्ष जाय, उसका शरीर उसी जगह कपूर की तरह उड़ जाता है। मोक्ष जाने वालेजीव का शरीर कहीं जलाने के लिए नहीं मिला करता। जो दाह क्रिया की बात बताते हैं, इन्द्र करता है वे सब नकली बातें हैं, बनावटी बातें हैं। भक्तिवश बनाया और चरणों में सिर झुकाया, मुकुट से अग्नि पैदा हुई और जला, यह केवल एक रागियों का अनुराग है। जो आत्मा शरीर से निकलकर सदा के लिए जन्मरण से छुटकारा प्राप्त करता है उसका शरीर कपूर की तरह उड़ जाता है। किसी को मिलता नहीं है। तो मेरूपर्वत के मध्य में ही वहीं उड़ गया तो कौन सी बात है ? ऐसी-ऐसी ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं वे अचरज के लायक नहीं हैं। ज्ञान ज्ञान में समाया हो तो न जाने क्या क्या समृद्धियां ऋद्धियां, चमत्कार बन जाते हैं जो कि लोगों में विस्मय उत्पन्न कर देते हैं। तो ऐसे ज्ञानपुंज परमात्म स्वरूप की जो भक्ति करेगा, उपासना करेगा उसके समस्त रोग शीघ्र ही क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, इसमें संदेह की कोई बात नहीं है।

श्लोक 6

दिव्यस्त्रीनयनाभिराम विपुलश्रीमेरूचूडामणे।

भास्वद्बालदिवाकरद्युतिहर प्राणीष्टभामण्डल।।

अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतम्।
सौख्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलस्तुत्यैव संप्राप्यते।।६।।

(८१) प्रभुचरणस्तवन से शाश्वत सुख लाभ—हे प्रभो तुम्हारे चरणारविन्दयुगल की स्तुति के द्वारा बाधारहित अचित्य सारभूत अतुल शाश्वत सुख प्राप्त किया जाता है। सुख उसे कहते हैं जिसमें आकुलता नहीं है। जिस-जिस बात में आकुलता है वह स्वयं साक्षात् दु:ख स्वरूप है। इस लक्षण से बढ़ करके देखते जावो सबको। रात–दिन दु:ख ही दु:ख पा रहे हैं संसार के प्राणी , क्योंकि जो सुख है संसार का सो भी दु:ख है, जो दु:ख है सो भी दु:ख है आकुलता जहां न हो उसे सुख कहो, आनंद कहो। इस दृष्टि से देखो तो यहां सर्वत्र आकुलता है। जहां उपयोग अपने केन्द्रभूत, स्रोतभूत स्वरूप से हटकर बाहर को मुख कर रहा है वहां निराकुलता की गुंजाइश नहीं है। और जहां उपयोग ने अपना मुख बाहर से मोड़कर शुद्ध निर्विकल्प अखण्ड ज्ञानानंद स्वरूप सहजस्वरूप की ओर दृष्टि की, वहां रत रहा, वहां आकुलता का काम नहीं है।

(८२) लोक में सर्वत्र दु:खमयता—भैया ! इतना ही ध्यान रखते रहें, अपने जीवन में प्रत्येक बात में कि यह भी दु:ख है, यह भी दु:ख है, यह भी असार है, बड़ी बुद्धिमानी करके वैभव बढ़ा लिया तो क्या, यह भी असार है, दु:खरूप है। बड़ी चतुराई करके कोई दूसरे के अधिकार को छीनकर कुछ अपने अधिकार में कर लिया तो क्या, यह भी असार है। बड़ी बुद्धिमानी करके वैभव बढ़ा लिया तो क्या, यह भी असार है, दु:खरूप है । चतुराई से विषयों कि साधन जोड़ लिये, यह भी असार, दु:खमय है। बड़े विषयों के साधन जुटे हैं, आराम से खाते हैं आराम से रहते है। बढ़िया कमरा है, सोते हैं, आराम करते हें, घर बैठे खूब आमदनी आती है, सब कुछ है तो क्या ? ज्ञानानंदधाम निज अंतस्तत्व के दर्शन की स्थिति को छोड़कर बाकी जितनी स्थितियाँ है सब दु:खरूप हैं। और कोई उपद्रव आये, उपसर्ग आये, मारे पीटे वह उतना दु:ख नहीं है जितना कि विषयों के साधन में, मौज में लग रहे वह दु:ख है, क्योंकि दु:ख तो दु:ख ही है, किन्तु विषयसुख दु:ख भी है और दु:ख मेंसुख मानने के भ्रम का महान दु:ख भीहै।

(८३) विषयसुखों की प्रकट दु:खों से भी अधिक दु:खरूपता—दु:ख आते हैं, सब पर आते हैं। बड़े-बड़े मुनीश्वरों पर भी दु:ख आये। किसी के सिर पर अँगीठी जलाई गई, किसी को कोल्हू में पेल दिया गया, किसी को शस्त्रों से मार दिया गया, किसी को कोठे में बन्द कर उसके अंदर लकड़ी कंडा आदि भरकर

आग लगा दी गई, किसी को नदी में बहा दिया गया, किसी को अग्नि में तपाये हुए लोहे के आभूषण पहिनाये गए, यों दु:ख अनेक हैं, लेकिन वे दु:ख ही हैं, असाता ही हैं, और जो लोग घर में मौज से रहते हैं, बच्चों के प्यार में, परिजनों की प्रीति में, परिजनों के बीच बैठकर जो कुछ लोगों से इज्जत मिलती है, उसके बड़प्पन में, वैभव के संचय में, आराम के साधन जुटे हैं, अच्छे महल हैं, कार मोटर है, बड़े सिपाही लोग हैं, सब प्रकार के जो संसार के मौज हैं इनमें रहने वालों को जो दु:ख है वह दु:ख उन अँगीठी जलाने, नदी में बहाने, आग में जलाने आदिक के दु:खों से ज्यादा भयंकर दु:ख है। टूटी पुरानी खाट पर कोई बैठ जाय और उसकी रस्सियां टूटकर थोड़ा धस गया, तो उस बैठने वाले पुरूष को उतनी चोट न लगेगी जितनी कि कोई बिना बुनी हुई खाट पर बैठ जाय, जिस खाट पर केवल अच्छी चादर तनी हुई बिछी थी और वह चादर कच्चे धागों से इधर-उधर चारों पायों में बँधी हुई थी। उस खाट पर खुश होकर बैठने वाला तो धड़ाम से जमीन पर गिर जायगा और उसके सिर पैर एक हो जायेंगे। तो यों समझिये कि जो संसार में दु:ख हैं, जिन्हें देखकर चेत कर सह रहे हैं, समझ रहे हैं, उन दु:खों से भी भंयकर दु:ख हैं विषयों में रमण करके मौज मानने के सुख। अब इस दृष्टि से देखो- सारा संसार दु:खपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इसलिए भी ये विषय सुख बहुत बड़े दु:ख है कि ये आगामी बड़े दु:खों के कारण बनेंगे। संसार में रूलाने के साधन है। जन्ममरण की परिपाटी के हेतुभूत हैं, इसलिए भी ये भंयकर क्लेश हैं।

(८४) क्लेशों के विनाश का एकमात्र उपाय—ये सारे क्लेश मिटेंगे तो उसका उपाय केवल एक ही है। यह उपयोग अपने आत्मा में सहज ज्योतिर्मय आनन्दधाम की ओर लग जाय। जैसे बच्चे पैदा होते हैं तो एक तरह से, लोग मरते हैं तो एक तरह से। दुनिया में क्लेश होते हैं एक तरह से (परदृष्टि करके)। इसी प्रकार आनंद भी मिलेगा सभी जीवों को एक ही तरह से। वह क्या कि आनंदस्वरूप सहजज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में उपयोग लगा दे, विकल्प छोड़ दे, मोह रागद्वेष हटा दे, यही एक उपाय है शान्ति पाने का। तो शान्ति पाने का भी यही उपाय है और मोक्षमार्ग भी यही है, धर्मपालन भी यही है, ध्यान भी यही है, कर्तव्य भी यही है। तो हे ज्ञानानंदस्वरूप भगवन्! तुम्हारे इन चरणकमल, ज्ञानदर्शन स्वरूप के स्तवन से इसके स्वरूप को उपयोग में समा देने से स्वाधीन सत्य निरूपम बाधा रहित शाश्वत सुख प्राप्त होता है।

(८५) शान्ति प्रभुस्तवन–यह शान्तिभक्ति है।जो शांति प्रभु हैं उनकी भक्ति की गई है, पर साथ ही साथ जब विशेष भेद व्यवहाररूप भक्ति में आता है तो नाम की तुलना से शान्तिनाथ भगवान की दृष्टि करके भी भक्ति

की गई है। शान्तिनाथ का दूसरा नाम जगन्नाथ भी है जो कि बहुत प्रचलित है। पहिले जगन्नाथधाम में शान्तिनाथ भगवान की मूर्ति थी और कुछ मूर्ति अब भी पायी जाती है। एक जगन्नाथ धाम का नाम प्रसिद्ध हो गया। तो इसका नाम जगन्नाथ क्यों है कि शान्तिनाथ भगवान चक्रवर्ती हुए हैं। सभी तीर्थंकर चक्रवर्ती नहीं होते, और होना भी नहीं चाहिए क्योंकि इससे पदवीधरों की संख्या कम हो जाती बताते हैं कि यह हुंडावसर्पिणी का दोष है कि चक्रवर्ती, कामदेव व तीर्थंकर भी एक व्यक्ति हुआ। इसके साथ-साथ शांतिनाथ कामदेव भी थे। उनका शरीर सुन्दर था, शांतिनाथ, ऐसा नाम भी अच्छा रखा गया है। तो ऐसे कारण हैं जिनके कारण शांतिनाथ को जगन्नाथ कहते है। आज की ज्ञात दुनिया भरत क्षेत्र के बराबर नहींहै । हे शांतिनाथ ! आप दिव्यस्त्रीनयनाभिराम हैं ललनाओं के नेत्रों के लिए भी आप सुन्दर है। जिनको देखने को दिव्यस्त्री भी उत्सुक हो, ऐसे हे दिव्यस्त्रीनयनाभिराम। इस विशेषण ने बताया है कि प्रभु आप कामदेव हैं। कामदेव कोई अलग से देवता का नाम नहीं हे। काम एक विकार का नाम है। और उस कामविकार के आधीन प्राय: यह विश्व है इस कारण से एक देवता के अलंकार में कवि है बैठते हैं सो कहते हैं कामदेव । यह कामदेव नाम उसका है और जो कामदेव की पदवी है, कुछ पुरूष कामदेव हुए है, उसका अर्थ दूसरा है उसका कामविकार से मतलब नहीं है, किन्तु जो शरीर से सुन्दर हो उसे कामदेव कहते हैं। कामदेव पद में भी न हों, ऐसे भी लोग जब अति सुन्दर रूपवान पाये जा सकते हैं तो फिर जो कामदेव के पद में हैं उनकी सुन्दरता का तो वर्णन ही कौन करे ?

(८६) कामदेवों का विशिष्ट सौन्दर्य—बलभद्र और नारायण ये दोनों भी रूप से बड़े मनोहारी होते हैं। बलभद्र और नारायण एक घर में उत्पन्न हुए भाई-भाई होते है। उनका पिता एक, माँ न्यारी-न्यारी। और उनमें भी बलभद्र होता है बड़ा भाई और नारायण होता है छोटा भाई। जैसे बलदेव और श्रीकृष्ण । बलदेव बलभद्र थे, श्रीकृष्ण नारायण थे, श्रीराम और लक्ष्मण में श्रीराम बलभद्र थे और लक्ष्मण नारायण थे। इसी प्रकार जितने भी ये जोड़े होते हैं उनमें बड़ा भाई बलभद्र और छोटा भाई नारायण होता है। साथ ही प्राकृतिक बात है कि बलभद्र की प्रकृति शांत, गम्भीर, धीर होती है और नारायण की प्रकृति उग्र और लोकेषणा वाली होती है। मैं सारे विश्व पर विजय प्राप्त करूँ ऐसी प्रकृति होती है नारायण की। तो श्रीराम बलभद्र जब अपने जीवन का सारा नाटक खेल चुके- भैया ! यहाँ भी सभी लोग जो कि इस जिन्दगी से जी रहे हैं वे सब नाटक ही तो खेल रहे हैं। बचपन में और तरह का नाटक खेला और वृद्धावस्था में और

तरह का नाटक खेला। देखो- सिनेमा थियेटर आदि में क्या दिखाया जाता है ? असली नाटक करने वाले की नकल। वह असली नाटक नहीं है।तो जो बहुत गंदे काम करें उनके भी थियेटर सिनेमा आदि बन जाते हैं। और बेचारे मंझले आदमियों का अर्थात् जो मध्यम श्रेणी के लोग हैं उनका थियेटर सिनेमा आदि नहीं बन पाता। खैर वह नाटक क्या चीज है ? जो साक्षात् खेल कर चुके हैं उनकी नकल है। तो जब श्रीराम बलभद्र अपने जीवन के सारे नाटक खेल चुके, सीताजी आर्यिका हो गई, लक्ष्मणजी की मृत्यु हो गई, श्रीराम को वैराग्य हो गया। निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह होकर आत्मसाधना में लग गए राम, तो श्रीराम जब निर्ग्रन्थ अवस्था में आहार चर्या के लिए गाँव में निकले तो श्रीराम का इतना सुन्दर रूप और फिर उस समय लोक में उनके प्रति आदर भक्ति बहुत, और अब तो साक्षात् श्रीगुरू भी बन गए। और जिनको थोड़े समय बाद परमत्व भी प्राप्त होना है वे जब चर्या को निकले तो पनघट पर रहने वाली स्त्रियाँ सभी वे इधर-उधर से दृष्टि हटाकर, कुवें की और से भी दृष्टि हटाकर श्रीराम की और टकटकी लगाकर देखने लगी, मगर स्त्रियों में विशेष करके यह आदत होती है कि वे कोई काम भी करती जाती हैं और इधर उधर देखती भी जाती हैं। तो वे स्त्रियाँ रस्सी में घड़ा भी फसाती जातीथीं अथवा कुवें के अन्दर घड़े को जल से भरने के लिए लटकाती भी जाती थीं और श्रीराम की और आकर देखती भी जाती थी। श्रीराम थे निर्ग्रन्थ गुरु अवस्था में, उस समय उनकी सुन्दरता और भी बढ़ती जाती थी। तो किसी महिला ने रस्सी से घड़े को बाँधने के बजाय पास में खड़े हुए बच्चे के गले में उस रस्सी को बाँध दिया, इतना वह बेसुध सी हो गई थी। यद्यपि बात ज्यादा आगे नहीं बिगड़ी, पर उस दृश्य को देखकर श्रीराम के दिल पर एक बड़ा भारी धक्का पहुँचा – सोचा ओह ! देखो मेरी ही वजह से इस महिला ने घड़े में रस्से का फंदा डालने के बजाय इस बच्चे के गले में डाला, मेरी वजह से लोग परेशान होते है, विह्वल होते हैं, ऐसा सोचकर श्रीराम ने प्रतिज्ञा की कि अब हमें आहार लेने के लिए शहर में नहीं जाना है, हमें तो अब जंगल में ही रहना है। जंगल में ही सुगमता से आहार मिल जायगा तो ले लेंगे, नहीं तो न सही। तो जो पुण्यवान पुरूष होते हैं उनकी सेवा में देव रहते हैं, मनुष्य रहते हैं, उन्हें कष्ट काहे का ? गुरु अवस्था में देव अगर आहार दें तो गुरु आहार नहीं लेते। मनुष्य ही यदि आहार दें तो लेंगे। तो वहाँ जंगल में भी उनके जोग जुड़ते रहे। श्रीराम जब गृहस्थावस्था में थे तब भी देव उनके मित्र थे। उनके पुण्य का कौन वर्णन करें ? तो कामदेव न होकर भी जब कोई कोई लोग इतने सुन्दर होते है कि जिनको देखकर नर –नारी विह्वल हो जायें तो फिर जो कामदेव की पदवी के धारी हैं उनकी सुन्दरता का तो कहना ही क्या है?

(८७) शान्तिप्रभु का भामण्ड़ल – शान्तिनाथ प्रभु तीर्थंकर पुण्य प्रकृति वाले थे, साथ ही वे शान्तिनाथ चक्रवर्ती भी थे। जहाँ राज्य चक्रवर्तित्व भी हो वहाँ रूपादिक गुणों का कई गुना महत्व बढ़ जाता हे। फिर इसके साथ-साथ तीर्थंकर जो कि समस्त पुण्यप्रकृतियो से उच्च प्रकृति है। तो ये शान्तिनाथ भगवान दिव्यस्त्रीनयनाभिराम थे। हे प्रभो ! आप महान् श्री लक्ष्मी शोभा हैं याने अंतिम अलंकार है। आपका भामण्डल समस्त प्राणियों को प्रिय हैं। जो भामण्डल बालसूर्य की द्युति को भी हरने वाला है। जिस समय सूर्य का उदय होता है उस समय के उदीयमान सूर्य को बालसूर्य कहते हैं। और जब दोपहर का समय होता है उस समय के सूर्य को तरूणसूर्य कहते हैं। तो बालसूर्य की जो कान्ति होती है, दोपहर के सूर्य को अच्छी प्रकार से नहीं देख पाते। उस समय नेत्रों को कष्ट होता हे। और उगता हुआ सूर्य सुहावना लगता है। देख लो रंग भी कितना प्रिय है ? तो जो बालसूर्य में रंग है वही रंग शान्तिनाथ भगवान के शरीर का था। तब उनका भामण्डल भी उसी प्रकार का था, ऐसे हे शान्तिप्रभु और उस परमौदारिक दिव्य शरीर अन्दर विराजमान ज्ञानमूर्ति अनन्त आनन्द के धाम हे परमात्मतत्व ! आपके चरणारविन्दुयुगल की स्तुति से अव्याबाध, सार, अतुल, शाश्वत सुख प्राप्त होता है।

(८८) प्रभुभक्ति का अतुल वैभव – प्रभुभक्ति समान इस जीव का और क्या वैभव हो सकता है ? प्रभुभक्ति भव-भव के पापों का हरण करने वाली है, इसमें रंच भी संदेह नहीं, क्योंकि प्रभु क्या हैं ? निर्दोष, पूर्ण विकास वाला अन्तस्तत्व । उसके स्वरूप पर जब दृष्टि जाती है तो यहाँ के सारे भार, विकल्प, चिन्ता, शोक आदि सब समाप्त हो जाते है। आनन्द और क्लेश दोनों से उठने वाले आँसू प्राप्त हो सकने की अगर कोई जगह है तो वह है प्रभुभक्ति । जब प्रभुस्वरूप को निहार कर उसमें अनुराग पहुँचता है तो आनन्द होता है, इसमें आप शक समझ ही नहीं रहे, लेकिन सन्देह यह हो सकता होगा कि प्रभुभक्ति जैसे आनन्द वाले कार्य में विषाद के आँसू कैसे आ सकते हैं? वहाँ यह समझिये कि जब प्रभुस्वरूप का स्तवन गुणगान करते-करते अपने आपकी वर्तमान स्थिति पर दृष्टि पहुँचती है तो विषाद नहीं होता है क्या ? हे प्रभो ! कहाँ तो मेरा स्वरूप है आपके समान और कहां ये रागद्वेष विषयकषाय आदिक के विकार में कीचड़ में मैं पड़ा हुआ हूँ। तो जब प्रभुभक्ति की तीव्रता होती है और उस समय अपनी वर्तमान स्थिति पर दृष्टि होती है तब विषाद के अश्रु भी उस आनन्द के अश्रु के साथ-साथ मिल जाते हैं। और उस गदगद् वाणी में जब वह भक्त कुछ बोलना चाहता है तो उसके मुख से स्पष्ट शब्द नहीं निकलते। उसके शब्दों में

अस्पष्टता आने लगती है।

(८९) प्रभुभक्ति का उचित अवसर—अनुकूल प्रभुभक्ति का मौका किसी को एकान्त में ही प्राप्त हो सकता है, भीड़-भड़क्का में ऐसा मौका नहीं प्राप्त हो सकता। जहाँ बहुत से लोग दर्शन कर रहे हैं, देख रहे हैं वहाँ प्रभुभक्ति का इतना अतुल वेग न आ सकेगा। लेकिन क्या करें लोग, समय एक है, सब लोगों को फुरसत सुबह के समय मिलती है। सभी लोग एकत्रित होकर आते हैं और राग वश एकत्रित होकर पूजन स्तवन आदि करने में लोगों का दिल भी भरता है तो वह भक्ति कुछ न कुछ तो ठीक है ही, पर भक्ति का असली रूप तो एकांत में प्रकट हो सकता है। बेखटके नि:शंक होकर जहाँ कोई देखने सुनने वाला नहीं, उस समय केवल आप हैं और प्रभुमूर्ति है। कुछ निर्विकल्पता हो, कुछ आत्महित की धुन हो, प्रभुस्वरूप का ज्ञान हो, इन सब बातों के संमिश्रण में जो प्रभुभक्ति होती है उसमें भव-भव के कितने ही पाप क्षीण हो जाते हैं। सो प्रभुभक्ति में हमारी वृद्धि हो जिस किसी भी प्रकार ऐसा हम आपका यत्न होना चाहिए। और प्रभुभक्ति ही एक पूजा थी। जो शान्तिभक्ति पढ़ रहे हैं, ऐसी-ऐसी जो भक्तियाँ हैं १०-१२ इन भक्तियों के रूप में प्रभु के गुणगान की पूजा थी। गाते जावो गद्यों में पद्यों में बोल-बोलकर । प्रभु के गुणस्मरण का नाम है प्रभुपूजा। प्रभुभक्ति में ऐसा प्रताप है कि बाधा रहित स्वाधीन शाश्वत सुख प्राप्त कर लिया जाता है। जीव को शान्ति ही तो चाहिये, शान्ति मिलेगी प्रभुभक्ति और आत्मध्यान से । स्वाध्याय आत्मध्यान का पूरक है। स्वाध्याय के लिए स्वाध्याय नहीं किया जाता किन्तु आत्मध्यान, आत्ममनन के लिए स्वाध्याय होता है । तो इस भक्ति में भक्त कह रहा है कि हे प्रभो ! आपके स्वरूप के स्मरण से ही शाश्वत स्वाधीन शान्ति सुख प्राप्त हो सकता है।

श्लोक 7

यावत्रोदयते प्रभापरिकर:श्रीभास्करो भासयस्-

तावद्धारयतीह पंकजवनं निद्रातिभारश्रमम्।

यावत्वच्चरणद्वयस्य भगवन् स्यात्प्रसादोदय:।

तावज्जीवनिकाय एष वहति प्रायेण पापं महत्।।७।।

(९०) प्रभुचरण प्रसाद के अभाव में पापवहन—हे प्रभो ! जब तक आपके चरणद्वय का प्रसाद नहीं प्राप्त होता तब तक यह जीव बहुत बड़े पाप को ढोता रहता है। आत्मा का सर्वस्व आचरण व्यवहार उपयोग के आधीन है। उपयोग यदि भगवान वीतराग सर्वज्ञ स्वरूप के स्मरण में लगा है तो वहाँ पाप की गुंजाइश नहीं है, और जब भगवान के स्वरूप स्मरण को छोड़कर स्वभावाश्रय से हटकर बाहर नजर लगी है तो वहाँ महान् पाप का बोझ ढोना होता है । जीव का सिवाय भाव करने के और कुछ करतूत नहीं है, वास्ता नहीं है। हम आप सभी जीव अज्ञानी हों अथवा ज्ञानी हों, सिवाय परिणाम बनने के और कुछ नहीं कर पाते। जितनी ये कल्पनायें हैं कि मैं धनी हूँ, व्यापारी हूँ, अमुक पोजीशन का हूँ, अमुक से सम्बन्ध है आदिक, उन कल्पनाओं रूप परिणाम के तो हम करने वाले हैं, पर दूकान व्यापार आदिक बाह्य पदार्थों का किसी का कर सकने वाले नहीं हैं, क्योंकि जीव है अमूर्त, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित, वह तो अपने आप में जो कुछ करे सो करे। सभी पदार्थो की यही बात है कि वे पदार्थ अपने आप में जो कुछ कर पायें सो करे, दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। जीव हो, पुदगल हो, कुछ भी पदार्थ हो वह अपने में कुछ करेगा, बस इतनी ही बात है उसमें। अपने से बाहर कोई पदार्थ कुछ कर नहीं सकता। क्यों भैया! इस दृष्टि से देखो तो अजीव पुदगल ज्यादह अच्छे हैं। जो पदार्थ हैं जहाँ के तहाँ हैं, दूसरे से कुछ वास्ता नहीं है, लेकिन इन पुदगलों की प्रशंसा यों नहीं है कि चेतना बिना सब पदार्थ सूने होते हैं। चेतन होकर फिर अन्य सभी पदार्थो की भांति अपने आप के स्वरूप में रहते, पर से मतलब नहीं रहता, ऐसी बात जहां प्रकट होती है उसको ही भगवान कहते हैं।

(९१) कृतकृत्य निर्विकार ज्ञानमात्र प्रभु की उपासना से पाप प्रक्षय—भगवान का ध्यान और स्मरण हमको पाप से बचायेगा, हमारे उद्धार का कारण बनेगा जब कि हम भगवान का स्वरूप वीतराग सर्वज्ञ कृतकृत्य के रूप में देख लें। प्रभु को इन तीन रूपों में तकना चाहिये-कृतकृत्य , निर्विकार और ज्ञानमात्र। ये तीन स्वरूप जब ध्यान में होते हैं तो आत्मा में सही प्रभाव उत्पन्न होता है। भगवान निर्विकार हैं। उनमें राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, इच्छा आदि किसी भी प्रकार का विकार नहीं है। प्रभु ज्ञानमात्र हैं। वहाँ हम क्या पा रहे हैं। सिवाय ज्ञान के ओर कुछ नहीं। जैसे दर्पण में स्वच्छता का ही प्रताप है कि कभी वह स्वच्छता तिरोहित होती है और उसमें प्रतिबिम्ब आ जाता है, दूसरी चीज की फोटो आ जाती है। यों ही अपने आपको निरखिये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान से अतिरिक्त अन्य कुछ मैं नहीं हूँ। और यह ज्ञान का ही प्रताप है, चेतना का ही प्रताप है कि निमित्त पाकर रागद्वेष, क्रोध, मान , माया, लोभ आदिक विकार हम पर हावी हो जाते हैं। तो सर्वत्र हम केवल ज्ञान परिणाम को किया करते हैं। प्रभु में विकार नहीं रहा,

इसलिए ज्ञानमात्र स्वरूप स्पष्ट मालूम होता है और वह कृतकृत्य है। जिसको करने को कुछ नहीं पड़ा है वह कृतकृत्य हैं। हम आप भी कृतकृत्य हैं। करने को कुछ नहीं पड़ा , मगर करे बिना, विकल्प किए बिना हम आप नहीं मानते । करने को न उन्हें कुछ पड़ा है, न हम आपको कुछ पड़ा है, क्योंकि अपने से बाहर में कुछ कर ही नहीं सकते। पड़ा क्या है ? मानते हैं कि हमको यह काम करने को पड़ा, बस इसका ही दु:ख है। तो आपका जो स्वरूप है निर्विकार ज्ञानमात्र कृतकृत्य, यह स्वरूप उपयोग में बसा हो जिस भक्त के उसके पाप नहीं होते , और जो प्रभु के स्वरूप से अलग हो गया, प्रभु के ध्यान से अलग हो गया उसको प्राय: करके महान पाप का बोझ ढोना पड़ता है। ये जीव निद्रा में बेहोशी में सने हुए हैं। ये कब तक सने रहेंगे जब तक प्रभुस्वरूप का प्रसाद नहीं मिला। जैसे कि जब तक सूर्य का उदय नहीं होता तब तक कमल बन्द रहते हैं और जैसे ही सूर्य का उदय हुआ कि उनका विकास होता है, ऐसे ही इस प्रभुस्वरूप का जिन आत्माओं के उपयोग में स्मरण है उनके ज्ञान का आनन्द का विकास है। तब करने को बस एक यही काम पड़ा है हम आपको कि प्रभु के स्वरूप का अधिकाधिक स्मरण रहा करे।

(९२) मंगल, लोकोत्तम व शरण्य निर्विकार प्रभु की उपासना—दर्शन पाठ में नमस्कार मंत्र के बाद जो चत्तारिदंडक पढ़ते हैं उसमें क्या भावना भायी जाती है ? दर्शन में णमोकार मंत्र और चत्तारिदण्डक (चत्तारिमंगलं आदि), इतना पाठ तो सर्वप्रथम पढ़ना ही चाहिये, इसके बाद विनती स्तवन आदि जो चाहे पढ़े । चत्तारिदण्डक, एक ऐसा निश्चित पाठ है कि जैसे अन्य लोगों ने अपना एक निश्चित पाठ बना रखा है तो चत्तारिदंडक में कहते हैं- चत्तारिमंगलं-चार चीजें मंगल हैं-अरहंत मंगल है, सिद्ध मंगल है। इस चत्तारिदंडक को खुद समझे और दूसरों को भी बतायें। जैसे कोई अन्य मजहब वाले लोग (अजान में) जोर-जोर से चिल्लाकर कहते हैं ना कि तुम हो श्रेष्ठ हो, यों ही समझिये कि यह चत्तारिदंडक एक श्रेष्ठ अजान है। इसे खुद समझें और दूसरों को समझायें। ४ चीजें मंगल है- मंगल उसे कहते हैं जो पापों को गला दे और सुख को उत्पन्न करा दे। पापों को गला देने की, नष्ट कर देने की और क्या तरकीब है सो तो बताओ ? अपने परिणाम शुद्ध रखना और जो शुद्ध हो गए हैं उनका स्मरण रखना सिवाय इस कार्य के और कौनसा कार्य है जो हमारे पापों को गला सकता है? तो अरहंत और सिद्ध क्या कहलाते हैं, पहिले यह ही समझिये । जो आत्मा शुद्ध हो गए, पवित्र हो गए, निर्विकार कृतकृत्य सर्वज्ञ हो गए, लेकिन जब तक शरीर है साथ में तब तक उस शुद्ध आत्मा का नाम है अरहंत । और वही शुद्ध आत्मा जब शरीर से रहित हो गया तो उसका नाम है सिद्ध। यह किसी का नाम नहीं है, किन्तु जो आत्मा शुद्ध हुआ उसका नाम रखा अरहंत। अरहंत का अर्थ है पूज्य। जो अल्य: का अर्थ है वही अर्हन् का अर्थ है- अरि मायने

शत्रु, शत्रु हैं घातियाकर्म, तो जिसके इन कर्मशत्रुवों का हनन कर दिया, नष्ट कर दिया उसे कहते हैं अरिहंत । तो ऐसा शुद्ध आत्मा कि जहाँ ज्ञान का विकास है, विकार का रंच नाम भी नहीं है और जो आनन्द का धाम है। आनन्द का धाम वही बन सकता है जो कृतकृत्य है, जिसको करने को कुछ नहीं पड़ा है। जो करने योग्य है उसका ध्यान होना कितना महत्वपूर्ण पुरूषार्थ है कि इस उपयोग के प्रताप से भव-भव के पाप कट जाया करते है।

(९३) मोह की आर्द्रता के विनाश से कर्म का निर्जरण—देखिये—जैसे धोती गीली है, नीचे गिर गयी, मिट्टी लग गयी, और कोई जान-बूझकर तनिक उसे धूल से भेड़ दे तो और भी अधिक मिट्टी लग गयी, गीली धोती में धूल चिपट गई। ठीक है, धोती गीली होने से वह धूल चिपट गई, पर ज्यों हो उस धोती का गीलापन दूर हो गया त्यों ही धूल तो अपने आप झड़ जायगी। सूख जाने पर, गीलापन समाप्त हो जाने पर पहिले वाली धूल भी झड़ जायगी और नवीन धूल चिपटने का कोई अवसर ही नहीं। तो यों समझिये कि अपने आपके आत्मा में जब तक रागद्वेष मोह की चिकनाई है, गीलापन है तब तक कर्म बँधते रहते हैं, कर्म कब्जा किये हुए हैं और जब ऐसा उपयोग बने कि रागद्वेष मोहभाव न आयें तो उस समय पाप झड़ेंगे और नवीन कर्म न आयेंगे। लोग सोचते हैं कि मोह बड़ा बलवान है, मोह का बड़ा प्रताप है, लेकिन मोह से बढ़कर ज्ञान का प्रताप है। मोह में कितना मोह बाँध लोगे , कितने कर्म बाँध लोगे ? बाँधते जावो। अनेक भवों के कर्म बँध जायेंगे, किन्तु जिस काल में आत्मा को आत्मा के सहजस्वरूप का अनुभवपूर्ण ज्ञान जगेगा उस ज्ञान में इतनी सामर्थ्य है कि अनेक भवों के बाँधे हुए मोह कर्म भी क्षणभर में ही झड़ जायेंगे। बल ज्ञान में अधिक है। मोह विकार में, कर्म में बल अधिक नहीं । ये तो दूसरे के बल पर नाच रहे है।

(९४) ज्ञानमात्र अन्तस्तत्व की अन्तर्भावना से भव भव संचितविधिविनाश—भैया हितंकर ज्ञान प्रकट होता है प्रभु के स्मरण से। ये सब बातें यथार्थतया उसके ही उपयोग में घर कर सकती हैं, जिसने अपना ऐसा भाव बनाया हो कि दुनिया की किसी भी चीज का सम्बंध उसके हित में नहीं है। गृहस्थ हो उसको भी यही निर्णय रखना होगा कि एक अणुमात्र का भी सम्बंध मेरे हित के लिए नहीं है।

मुझे लगना पड़ रहा है परिग्रह में, रक्षा करनी पड़ रही है, संचय भी करना पड़ रहा है। सब कुछ होते हुए भी विश्वास यह रहे कि अणुमात्र भी सम्पर्क मेरे आत्मा के हित के लिए नहीं, दु:खों से छुटकारा पाने के लिए नहीं, कर्मो से मुक्ति पाने के लिए नहीं । जीव में और बल क्या है सिवाय एक ज्ञान के ? लोक में भी जिस पुरूष को ज्ञान नहीं है, ज्ञान में कमी है, ज्ञान में खराबी है, कुछ दिमाग की खराबी है,

कुछ समझता ही नहीं है, अपना खाना-पीना भी नहीं बना सकता, ऐसे पुरूष को लोग कहते हैं ना कि यह बेकार है? क्यों बेकार कहते है? शरीर तो अच्छा है, ह्रष्ट –पुष्ट भी है। अरे उसके पास दिमाग नहीं है , ज्ञान नहीं है। ज्ञानबल न होने के कारण लोग उसे बेकार कहते है। ज्ञानबल हो तो वही पुरूष बड़े काम का पुरूषार्थ कर लेता है। तो आत्मा का धन वास्तव में ज्ञान है जो साथ नहीं छोड़ता । ज्ञानमय ही है यह आत्मा । अन्य कुछ इसमें लगा ही नहीं है। ऐसे ज्ञानमात्र स्वरूप प्रभु का स्मरण करने से भव-भव के पापकर्म दूर होते हैं।

(९५) प्रभुस्वरूपस्मरण की ईप्सितता—हे नाथ ! बस और कुछ न चाहिए। मुझे माल यह चाहिए कि आपका स्मरण व आपके स्मरण का स्मरण न छूटे। आपके स्वरूप का हमें इस रूप में स्मरण न करना है कि आप इतने लम्बे चौड़े हैं, आपका गोरा शरीर है, आप अमुक वंश में उत्पन्न हुए थे आदिक। इस रूप का स्मरण करने से तो वहाँ हम अटककर रह जायेंगे और प्रभुता अनुभव न कर पायेंगे। हम आपके स्वरूप स्मरण चरित्र और प्रवृत्तियों की प्रशंसा द्वारा भी नहीं करना चाह रहे। हम तो सहजप्रभुता के रूप में स्मरण चाह रहे हैं। जब हम एक परमार्थ पद्धति से प्रभु को निरखने जायेंगे तो वहाँ हमें तीन बातों पर ध्यान देना है- प्रभु ज्ञानमात्र हैं, ज्योतिपुंज हैं, ज्ञानस्वरूप के सिवाय और कुछ नहीं हैं। रागद्वेष , कषाय, इच्छा आदि किसी भी विकार का वहाँ अंश नहीं है और प्रभु आनन्दधाम हैं। बाहर में कुछ करने को पड़ा ही नहीं है। इस रूप प्रभु का स्मरण करे कोई तो यह भी स्वयं परम आनन्दमय होगा और समस्त पापकर्मो को दूर कर देगा।

(९६)विकारोपयोग में प्रभुता का अभाव –अब सोचिये - इसके विरूद्ध यदि प्रभु ऐसे हों कि अपने भक्तों पर तो प्रसन्न हों। और जो भक्त नहीं हैं उन पर नाराज हों, किसी को दु:ख दें, किसी को सुख दें, ऐसा भी सोच लें कि इस जीव ने यदि पाप किया तो क्या करें, इसको दु:ख देना ही पड़ेगा, इस जीव ने पुण्य किया तो इसको सुख देना ही पड़ेगा, तो भाई पड़ेगा क्या ? प्रभु का यह स्वरूप नहीं कि वह अपने आनन्दस्वरूप को छोड़कर दूसरे पदार्थ के कुछ कार्य करने के लिये लगे। यह तो सब हो रहा है , निमित्तनैमित्तिक भाव से चल रहा है। जैसा भाव तैसा कर्मबन्ध, तैसा उदय, तैसा अनुभव, तैसा फल, ये सब स्वयं चल रहे है। प्रभु तो इन सबसे मुक्त हैं और अपने अनन्त आनन्द में लीन रहा करते हैं। प्रभु कृतकृत्य है। उन्हें कुछ काम करने को नहीं पड़ा । देखिये तीर्थंकरों ने भी, ऋषभदेव आदिक तीर्थंकरों ने भी जब तक जो कुछ किया, घर में रहे, राजदरबार किया, न्याय किया, कुछ भी किया तब तक उन्हें प्रभु नहीं माना गया। तीर्थंकर जन्म से ही प्रभु नहीं हैं, दीक्षा लेने पर भी प्रभु नहीं हैं, किन्तु जब उनके चार

घातियाकर्म दूर हुए, कैवल्य प्रकट हुआ, वीतराग, सर्वज्ञ कृतकृत्य हुए तब वे प्रभु कहलाये। हनुमानजी को कामदेव माना गया है, वे राजा पवनंजय के पुत्र थे, जिसकी वजह से बहुत से लोग ऐसा भी कह बैठते हैं कि वे पवन अर्थात हवा के पुत्र थे। भला कभी किसी ने हवा से उत्पन्न हुआ कोई लड़का आज तक देखा है क्या ? अरे जो बात जिस विधि से होती है सो होती है। पवनंजय नामक राजा के पुत्र हनुमान कामदेव थे। कामदेव का अर्थ है-इतना सुन्दर रूप कि जिसके समान सुन्दर दुनिया में अन्य कुछ न हो । हनुमान का इतना सुन्दर रूप था कि उस समय दुनिया में उनसे सुन्दर अन्य किसी को नहीं कहा जा सकता। उन्होंने भी जब तक अनेक प्रवृत्तियां कीं, चाहे वे श्रीराम की सेवायें ही क्यों न हों, बड़े-बड़े युद्धादिक के कार्य भी क्यों न हों, पर उन सब प्रवृत्तियों के कारण हनुमान को प्रभुता नहीं प्राप्त हुई। हनुमान जी ने फिर दीक्षा भी ली, निर्ग्रन्थ साधु हुए तब भी प्रभु नहीं कहलाये। जब घातियाकर्म उनके नष्ट हो गए, वे वीतराग , सर्वज्ञ, कृतकृत्य हो गए तब प्रभु कहलाये, परमात्मा कहलाये। तो प्रभु को इन तीन रूपों में निहारिये।

(९७)अविकार स्वरूपी प्रभु के दर्शन का प्रभाव—प्रभुस्वरूप को निर्विकार रूप में देखे तो अपने आपके निर्विकार स्वरूप की सुध बनेगी और उत्सुकता होगी कि मेरे ये विकार दूर हों, और जो मेरा अविकार ज्ञानस्वरूप है उसका निरन्तर अनुभव करता रहूं। अपने को कृतकृत्य अनुभव करेंगे तो शान्ति का मार्ग दृष्टिगोचर होता रहेगा। जब तक बाह्य पदार्थों में कुछ काम करने का विकल्प है तब तक अशान्ति है, दु:ख है, संसार है। जब निज को निज पर को पर जानकर यह भाव आयगा कि बाह्य पदार्थो में करने को मेरे लिए कुछ नहीं है, जब गड़बड़ हूँ तब भी मैं अपने ही भाव को कर रहा हूँ। जब सम्हलूँगा, शुद्ध पथ पर आऊँगा तब भी मैं अपने भावों को ही कर रहा होऊँगा। मैं किसी भी पदार्थ का करने वाला नहीं हूँ। प्रभु की तरह मेरे में भी कृतकृत्यस्वरूप मौजूद है, उस पर अमल नहीं है। जब प्रभु की सर्वज्ञता पर हमारी सुध होगी तो हमें अपने आपके प्रति भी यह स्मरण रहेगा। देखो-जब विशुद्ध ज्ञान होता है तब किसी दंद-फंद, मोह, रागद्वेष, चिन्ता, शोक ,भय आदिक कहीं कोई भी विकार नहीं रहते। तब ज्ञान का ऐसा असीम उदय होता है कि ज्ञान-ज्ञान की ही जगह है, आत्मा में ही मौजूद है। और उस ज्ञान में तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थ एक साथ झलकते हैं। यह सब आत्मा के नाते से बात की जा रही है।

(९८)आत्मत्व के नाते से शान्ति के उपाय का अन्वेषण—जिस पुरूष को अपना कल्याण करना है उसे अपने आपके बारे में आत्मा के नाते से ही ध्यान रखना होगा। मैं किस कुल में पैदा हूँ, किस जाति में पैदा हूँ, ये सब विकल्प छोड़ देने होंगे। केवल एक इससे नाता रखना होगा कि मैं आत्मा हूँ, मुझे शान्ति

चाहिये। आत्मा-आत्मा सब एक समान हैं, शान्ति का स्वरूप सबके लिए एक रूप है। शान्ति का जो उपाय है वह भी सब में एक ही प्रकार का है। और इस तरह शान्ति का स्वरूप जानकर शान्ति के मार्ग में चलें, आत्महित के भाव से रहें, बस उसी के मायने हैं धर्म ।यही हुआ धर्म का पालन करना । तो आत्महित के नाते से विचार करिये। निर्विकार होने से प्रभु में ऐसे ज्ञान का उदय होता है कि जिसमें तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थ एक साथ झलकते रहते हैं। यही है देव, यही है भगवान, इसी को कहते हैं परमात्मा। इस सर्वज्ञ का स्मरण करने से अपने आपके स्वरूप की सुध होती है । मैं भी इस ही स्वरूप हूँ। ज्ञानमात्र सद्भूत होने से प्रदेशवान है यह, चीज है यह, पर इसका सारा ढांचा सब शरीर, सब कलेवर सर्वस्व ज्ञान ज्ञान ही है। मूर्तिकता तो इसमें है नहीं। अमूर्त है यह आकाश की तरह । यह मैं आत्मा अपने स्वरूप मात्र हूँ, यह सुध होती है प्रभु के स्तवन से।

(९९)ज्ञान के आधार और आश्रय के मर्म में वैभव का दर्शन- एक भक्ति प्रभुभक्ति में बोलता है कि हे नाथ ! मुझे तो यों लग रहा है कि तुममें मैं हूँ, समा गया हूँ। जब उपयोग जिस किसी पदार्थ में एक तान से लगा हुआ हो तो वह कहाँ प्रवेश किए हुए है ? उस ज्ञान में। देखिये-ज्ञान की ऐसी विलक्षणता है कि ज्ञान का आधार तो है यह आत्मा, लेकिन ज्ञान जिस पदार्थ के जानने में लग जाय, ज्ञान का रहना वहाँ पर कहलायेगा। कहाँ रह रहा है ज्ञान ? जिसको जान रहा है उसमें। याने कितनी विलक्षण बात है? ज्ञान आत्मा को छोड़कर एक प्रदेश भी बाहर नहीं जा सकता, मगर ज्ञान का निवास कहाँ है ? जिसे जान रहा उस पदार्थ में। तो हे प्रभो ! जब मैं एक तान होकर केवल आप में ही लीन हो रहा हूँ, आपको ही जान रहा हूँ तो मैं तो यही समझता हूँ कि तुम ही में मैं हूँ। तुममें मैं आ गया। यद्यपि यह बात सत्य नहीं है। प्रभु में प्रभु हैं मुझमें मैं हूँ, लेकिन जिस काल में मेरा ऐसा उपयोग होता है कि तुममें ही मैं समा गया, इस प्रकार का उपयोग लगता है तो हे प्रभो ! मुझमें बहुत बड़ी तृप्ति उत्पन्न होती है। मैंने जो कुछ करने योग्य था सब कर लिया। हम प्रभु को इन तीन गुणों के रूप में निहारें- भगवान निर्विकार हैं, ज्ञानमात्र हैं, कृतकृत्य हैं, तब अपने भले के लिए , अपनी मोह –निद्रा के भंग करने के लिए सब उद्यम अपने आप होते चले जायेंगे। सम्यक्त्व का कारण है प्रभुस्वरूप और निर्ग्रन्थ गुरु, और स्वपर दयामयी धर्म। इनके स्वरूप का निर्णय होना सम्यग्दर्शन कारण है। हे भगवन ! जब तक आपके चरणकमल की प्रसन्नता का उदय नहीं होता तब तक ही यह जीव मोह के महापाप को धारण करता है और जब प्रभुस्वरूप का उदय हो, उपयोग में आपके चरणद्वय की वन्दना हो तो फिर वहाँ पाप नहीं ठहरते। इस जीवन में जीकर निष्पाप

होने का यत्न हमें करना है और जो शुद्ध स्वरूप है उस स्वरूप के ध्यान करने में हमें यत्न करना है। यह महान तपश्चरण हम आपके कर्मकलंक को जला देगा, शान्ति के निकट पहुंचायेगा, और निकट काल में मुक्ति भी प्राप्त होगी।

श्लोक 8

शान्ति शान्तिजिनेन्द्र शान्तमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात्,
संतप्ता: पृथ्वीतलेषु बहव: शान्त्यर्थिन:प्राणिन:।
कारूण्यान्ममभाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरू,
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदत: शान्त्यष्टकं भक्तित:।८।।

(१००) शांतस्वरूप के उपयोग से ही शान्ति की संभवता-- हे शान्ति जिनेन्द्र ! इस पृथ्वी तल पर संतप्त हुए बहुत से प्राणी जो कि शान्ति चाह रखने वाले हैं वे शान्त मन वाले राग-द्वेष रहित आपके चरणकमल के आश्रय से शान्ति को प्राप्त होते हैं। उद्विग्न मन वाले पुरूष कहाँ जायें, कहाँ बैठें , किसकी सुनें कि उनका उद्वेग दूर हो जाय? ऐसा स्थान कहीं न मिलेगा सिवाय एक प्रभुचरण के । किसी को इष्टवियोग हो गया तो उस इष्ट वियोग में रहता हुआ प्राणी जहाँ भी जाये, जहाँ भी बैठे वहीं लोग किसी न किसी ढंग से याद दिला-दिलाकर दु:खी करने के कारण होते हैं। जैसे भाई वह बड़ा अच्छा था, सबकी बड़ी सम्हाल रखता था। वह सबकी सेवा के पीछे अपने खाने पीने की भी सुध न रखता था, वह सबका बड़ा उपकारी था, यों उसके गुणगान करना, कुछ न कुछ याद दिलाना, यह सब क्या है? यह तो उस दु:खी के दु:ख को और भी बढ़ावा देना है। अरे उस दु:खी के दु:ख मेटने का साधन तो यह था कि जिस किसी प्रकार हो, उसका उपयोग बदल दिया जाय। इन रागी द्वेषी मोही पुरूषों का संग उसकी शान्ति का कारण नहीं हो सकता । हे प्रभों ! आपके चरणयुगल का स्तवन करे, आपके अपने उपयोग में बैठाल ले तो उसको शान्ति हो सकती है।

(१०१) प्रभुचरणस्तवन से शान्ति प्राप्त होने का कारण - प्रभु के चरणस्तवन से शान्ति इस कारण हो जाती है कि किसी को अशान्ति तो है नहीं, दु:ख तो है नहीं, कोई बात नहीं है, किन्तु भ्रम लगा रखा है, और

वहाँ जाकर भ्रम का उपयोग बदल जाता, शान्ति अपने आप मिल जाती। पदार्थ सब अपने अपने स्वरूप से है, एक का दूसरे के साथ कोई सम्बंध है नहीं। अच्छा बताओ- आप जिस हवेली में रहते हैं उस हवेली से आपके जीव का कोई नाता है क्या? जो जीव आपके घर में आये हैं उन जीवों से आपके आत्मा का क्या सम्बंध है? रही यह बात कि कोई कहे कि वाह, हमारे ही तो बच्चे हैं, हमारे ही निमित्त से तो पैदा हुए हैं, तो भाई यह तो जगजाल है। कीड़ा ,मकोड़ा, मच्छर, घास, फूस ये मिट्टी के निमित्त से पैदा होते हैं, तो यह तो निमित्त की बात है, उससे क्या ताल्लुक ? जिस निमित्त से (रजवीर्य से) ये बच्चे पैदा हुए वह तो तुम नहीं हो। तुम तो अमूर्त ज्ञानमात्र हो, तुमसे क्या ताल्लुक है? धन वैभव से सम्बंध कुछ नहीं। और जो बात बिल्कुल नहीं है, उसको माने, सम्बंध करे, उसका क्लेश इतना बड़ा होता हे कि उसकी कोई मिसाल नहीं हे। सर्व अशान्ति का मूल भ्रम है। वह भ्रम प्रभुस्वरूप विनयन से समूल नष्ट हो जाता है तब शान्ति मिलेगी ही।

(१०२) भ्रम के क्लेश का एक दृष्टांत—एक कथानक है कि १० जुलाहे हाट के दिन किसी गाँव से किसी शहर गए। गाँव और शहर के बीच एक नदी पड़ती थी। तो मानो शनिवार के दिन का हाट था। हाट करके वे जुलाहे ४ बजे शाम को अपने गाँव के लिए लौट पड़े। नदी भी पार कर ली। जब नदी के दूसरी पार आएगए तो उन सब में किसी एक जुलाहे ने कहा कि अपन लोग गिन ले कि अपने सभी मित्र हैं कि नहीं। गिना तो ९ ही निकले। वे गए तो थे १० मित्र, पर सभी ने गिना तो सबने ९ ही मित्र पाये। सोचा- ओह! हमार एक मित्र गायब हो गया। उन सबमें परस्पर में बड़ा प्रेम था, सो वे अपने एक मित्र के गुम जाने पर बड़े दु:खी हुए-हाय ! गये तो थे तीन-चार रुपये के मुनाफे के लिए और अपने एक मित्र को ही खो दिया। पता नहीं वह मित्र नदी में डूब गया या अन्यत्र कहीं खो गया। यों वे सभी अपने एक मित्र के न मिलने पर इतने दु:खी हुए कि सभी जुलाहों ने रो-रोकर अपने सिर भी फोड़ लिए। भैया ! भ्रम का बड़ा कठिन दु:ख होता है। जब एक सूझता पुरूष आया और उसने रोने का कारण पूछा तो उन जुलाहों ने बताया कि हम आये तो थे १० मित्र, पर हममें से एक मित्र न जाने कहाँ गायब हो गया? पता नहीं नी में डूब गया या कही मर गया। उनकी बात सुनकर उस सूझते पुरूष ने एक सरसरी निगाह में ही देख लिया कि हैं तो ये दसों के दसों और ये क्या कह रहे हैं? सो वह सूझता पुरूष बोला – अगर हम तुम्हारा १० वां मित्र बता दें तो क्या दोगे ? वे जुलाहे बड़े खुश हुए और बोले – हाँ हाँ भैया बता दो, तुम जो कहोगे सो देंगे। अच्छा तुम सब लोग खड़े हो जावो एक लाइन में। खड़े हो गए और एक बेंत से धीरे-धीरे मारकर कहे देखो-१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ और जरा जोर से मारकर कहे यह १०। यों सभी जुलाहों के

क्रम क्रम से बेंत मारकर सभी को उनका १० वां मित्र बता दिया। वे सब जुलाहे अपने १० वें मित्र को पाकर बड़े खुश हुए । तो भैया ! भ्रम का दु:ख इतना कठिन होता है?

(१०३) भ्रम से हटकर निर्मोह हुए बिना धर्मपालन की असंभवता – अब समझिये कि जहाँ यह भ्रम लगा है कि मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा वैभव है वहाँ ये ऊपरी-ऊपरी धर्म करने से क्या फल मिल जायगा? धर्म तो निर्मोहता में है। अगर ऊपरी-ऊपरी भगवान की बड़ी भक्ति हो, भगवान की मूर्ति की बहुत-बहुत सफाई की जाय तो इससे कुछ फायदा तो न पहुंचेगा । फायदा तो निर्मोह होने में पहुंचेगा। रह-रहे हैं घर में तो ठीक है, मगर यह बात तो यथार्थ जाने कि मेरा आत्मा मेरे प्रदेश में है, इससे बाहर मेरी कुछ भी चीज नहीं, यह श्रद्धान में, यह ज्ञान में, यह ध्यान में रहना चाहिए, फिर तो जिन्दगी सफल है। अगर एक इतना ही ध्यान आ गया कि मेरा आत्मा मेरे प्रदेशों में ही है, मेरे से बाहर मेरा आत्मा नहीं है। यदि यह ध्यान में आ गया तो समझ लीजिए कि जिन्दगी सफल है। सदा के लिए उसके संकट टलेंगे। और बात कितनी सी है ? जो चीजें अभी थोड़े दिन के बाद में अपने पास नहीं रहनी हैं उन्हें अभी से मान लो किये चीजें मेरी नहीं हैं। इतनी भर बात मानने में कुछ कठिनाई नहीं है, मगर वस्तु का वह स्वरूप ज्ञात हुए बिना कैसे मान ले ? उस पर अधिक दृष्टि जाय कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूप में रहता है, उससे बाहर नहीं। इससे बाहर मेरा कुछ नहीं। जीव का कल्याण करने के लिए अनेक दार्शनिकों ने अनेक तरह की कुंजियाँ बतायीं, मगर इस कुंजी को तो देखो-जरा से इस नुक्ते को तो देखो-कितनी जल्दी बेड़ा पार हो जायगा। प्रत्येक वस्तु को इतने ही स्वरूप में देखो, इससे बाहर इसका कुछ नहीं है।

(१०४) अपने अपराध की परख के लिये पैनी दृष्टि की आवश्यकता—अच्छा, दूसरे की बात तो झट समझ में आती थोड़ी-थोड़ी। इसका मकान कुछ नहीं, मकान न्यारा है, यह भाई न्यारे हैं, यह बात तो झट समझ में आती है और मैं इस मकान से न्यारा हूँ अथवा यह मकान मेरे से न्यारा है, इतनी बात खुद के विषय में समझने में मुसीबत पड़ती है। तो वस्तु के स्वरूप का जैनशासन में कहे हुए ढंग से ज्ञान न करे तो उसका मोह नहीं मिटता। कितने ही उपाय रच लो, खूब मान लो कि यह सब भगवान का बगीचा है, मेरा कुछ नहीं, तो बस वह बात की ही बात है, माया की ही गप्प रहेगी, भीतर में तथ्य ठोस नहीं आ सकता है जिससे कि मोह हटे । अच्छा ओर कुछ उपाय मोह हटाने का जिसने जो समझा हो जो सुना हो सो बताओ। एक इस वस्तु स्वरूप के ज्ञान के अलावा ओर कोई उपाय सुना हो, समझा हो तो बताओ ऐसा कि मोह जड़ से हट जाय।

(१०५) निष्पक्ष हितमार्ग वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान — देखिये-इस वस्तुस्वरूप के ज्ञानरूप संकटमुक्त्युपाप में किसी प्रकार के दोष का भय नहीं। जैसे कि अनेक मजहब कहा करते है कि देखो-दूसरे के भगवान को मानोगे तो तुम काफिर हो जावोगे, मिथ्यादृष्टि हो जावोगे, बेहोश हो जावोगे, ऐसे ही दूसरे के गुरूवों को व दूसरे के शास्त्रों को मानोगे तो तुम संसार में रूलोगे। तो यहाँ हम कहते हैं कि तुम किसी के भी, न अपने न दूसरे के देव, शास्त्र तथा गुरु को मानो, लेकिन इतना तो जान जावो कि प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूप में है। अपने से बाहर कोई वस्तु नहीं है। इतना जानकर फिर उसके आधार पर चिन्तन करने लगें। जो सही बात होगी वह ही तुम्हारे चित्त में आयगी। जैसे यह घड़ी है तो घड़ी का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सब कुछ घड़ी में ही है, घड़ी से बाहर नहीं है। ऐसा जान लेने में कोई मजहब का दोष लगता है क्या ?जो वस्तु है सामने उसे जान रहे हैं। अब आत्मा को जानो, मैं आत्मा जो अहं प्रत्यय के द्वारा वेद्य है, मैं मैं इस बुद्धि के द्वारा जो समझ में आ रहा है उसका अनुभव जितने में हो रहा है उसकी शक्ति ,उसकी पर्याय, उसका गुण उतने में है। इसका परिणमन, इसका भाव, इसकी करतूत, इसका अनुभव जो कुछ है इसका इसमें ही है, इससे बाहर नहीं है। मेरा सर्वस्व मेरे में है। मेरे से बाहर नहीं है कि मैं किसी का कुछ कर दूं, मैं किसी का कुछ अनुभव लूं, किसी का कुछ कर लूं, ऐसा तो नहीं है। देख लो-सभी जगह। झट समझ में आ जायगा स्वरूप, मोह मिट पायगा। और मोह मिटने से खुद ही में खुद का विकास हो होकर तुम्हारी वह सब बात सही बन जायगी कि असल में देव, शास्त्र, गुरु ये कौन होते हैं? दिल साफ कर के वस्तुस्वरूप को सही बैठाल लें, उसे विदित होगा कि सच्चा देव किसे कहते हैं? यह मैं आत्मा जैसे अपने स्वरूप से सहज हूँ ऐसे ही कोई बन जाय प्रकट, इससे बाहर की उपाधि न लगे, जिससे कि मैं खुद दु:खी रह रहा । जो बाहरी मेल है, बाहरी उपाधि है वह न रहे, ऐसा स्वच्छ केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय वह है देव, क्योंकि उसका चमत्त्कार विचित्र है। समस्त लोक त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेय पदार्थ उसके ज्ञान में झलकते रहते हैं । वह कृतकृत्य हो गया, आनन्दधाम है, किसी प्रकार का क्लेश नहीं, वह होता है देव, और ऐसा ही बनने के लिए जो यत्न करें वे कहलाते हैं गुरू, और ऐसा ही होने का जहाँ उपदेश है वे कहलाते हैं शास्त्र।

(१०६) आत्महित के दृढ़निर्णय के संकल्प की आवश्यकता-भैया! अपना पहिले यह पक्का निर्णय बना लीजिए कि मुझे तो आत्महित करना है, मेरा और कुछ मतलब ही नहीं । थोड़े दिनों का जीवन है। इसमें हमें क्या विवाद करना?

क्या लड़ाई झगड़ा करना ?क्या पक्षपात करना ? हम तो खुद दु:खी हैं, अशरण हैं, बेचारे हैं, कोई ठीक ठिकाना नहीं है। पहिले अपने को तो सम्हाल लें। वाद-विवाद में क्या रखा है? यों वस्तुस्वरूप का निर्णय करके जो यहाँ अपना निर्णय बनाता है वह नियम से पार होगा। हे प्रभो ! आपके चरणद्वय को ही मैं देव मानता हूँ। व्यवहारभक्ति में चरणों को भी देवता कहते हैं। इनके चरण ही हमारे देवता हैं, इन्हें छू लेने दो और परमार्थ प्रभु के दो चरण हैं-दर्शन और ज्ञान। वे देवता हैं। ज्ञान का यथार्थ स्वरूप याने सामान्य प्रतिभास वाली शक्ति और विशेष प्रतिभास वाली शक्ति, ये दो हमारे देवता हैं। तो हे प्रभो! इस चरणद्वय को मैं देवता मानता हूँ और उस देवता का स्तवन कर रहा हूँ। शांति–अष्टक रूप से पाठ कर रहा हूँ।

(१०७) शान्त्यष्टक की समाप्ति में दृष्टि को प्रसन्नता की अभ्यर्थना- यह ८ वाँ छन्द है और यहां तक शान्ति-अष्टक के समाप्त होने का संकेत है। सो मुझ भक्त पर दया करके मेरी दृष्टि को प्रसन्न कीजिए। हे प्रभो! मैं और कुछ नहीं चाहता। बस यही चाहता हूँ कि मेरी दृष्टि निर्मल हो जाय। किंवदंती ऐसी है कि शान्तिभक्ति बनाने वाले आचार्य की नेत्र ज्योति बहुत कम थी और शान्तिअष्टक पढ़ने के बाद कहा-हे प्रभो ! मेरी दृष्टि निर्मल कीजिए, तो उनके नेत्र ज्योति वाले अर्थात निर्मल हो गए। यह बात इसमें तो नहीं लिखी है, लेकिन इसका सीधा अर्थ यही है कि मेरी दृष्टि, मेरा उपयोग, मेरे जानने देखने की पद्धति प्रसन्न हों अर्थात निर्मल हों। हे नाथ ! मैं और कुछ नहीं चाहता। किसी बड़े से माँगों तो कोई अनर्घ्य बात मांगो । छोटी मोटी बातें तो अपने आप सिद्ध हो जाती हैं। तो चैतन्य प्रभु से मांगो कि हे प्रभो ! मुझे ऐसी चीज दीजिए कि मेरी दृष्टि निर्मल हो जाय। लो एक इस ही बात के पा लेने से समस्त दु:ख खतम। कल्पनायें करके अनेक दु:ख हम आपने लगा रखे हैं- वह हवेली गिर गई, वह लड़का बीमार है, वह बहू मर गयी, वह अमुक मर गया, यों पचासों दु:ख लगे हैं। उन सारे दु:खों के मिटाने को एक दवा है- क्या कि स्वरूप को निरख लो, मुझ अमूर्त आत्मा का इस दुनिया में कही कुछ नहीं है। इस आंकिचन्य भाव के आते ही सारे दु:ख एक साथ समाप्त हो जाते हैं। और यह कोई बहकाने की बात नहीं कह रहे-बात ऐसी ही है। ऐसा मान लेने पर आत्मा के दु:ख मिटते हैं, और सही बात पर अपने आप उपयोग पहुंचता हैं।

(१०८) मोहियों की दयनीय दशा-अहा मोही प्राणियों की तो यह अवस्था है कि जैसे कोई एक बूढ़े बाबाजी अपने दरवाजे पर बैठे थे और उनके नाती पोते सब उन्हें हैरान कर रहे हैं। कोई सिर पर बैठता, कोई बाल नोचता, कोई कान नोचता, कोई मूँछ पटाता आदि । इन सब बातों से हैरान होकर वह बूढ़ा रोने भी लगा। इतने में एक सन्यासी निकला। पूछा-'बाबाजी तुम क्यों दु:खी हो रहे हो? तो बूढ़े बाबा ने सारी बात

बता दी। तो सन्यासी ने फिर कहा-अच्छा कहो हम तुम्हारे इस दु:ख को मेट दें ? तो बूढ़ा बोला-हाँ महाराज ! हमारा यह दु:ख मेट दो। वह बूढ़ा तो सोचता था कि सन्यासी महाराज कोई ऐसा मंत्र फूंक देंगे कि ये नाती पोते सब हमारे पैर पड़ेगे। तो सन्यासी बोला-देखो तुम्हारा यहाँ कुछ भी नहीं है। ये नाती-पोते तुम्हारे कुछ भी नहीं हैं। इनसे तुम्हारा कुछ भी सम्बंध नहीं है। तुम तो इन सबको छोड़ो और हमारे साथ चलो। तो वह बूढ़ा बोला-महाराज ये नाती पोते चाहे कितना ही हमें सताये, ये तो हमारे नाती-पोते ही रहेंगे और हम इनके बाबा ही कहलायेंगे, तुम बीच में ऐसे कौन से दलाल आ गए जो हमारा उनका सम्बंध मिटाने की बात कह रहे? तो भाई ये मोही प्राणी पिटते भी जाते, दु:खी भी होते जाते, फिर भी उन्हें अपनाते जाते, उनमें ममता करते। तो इसके फल में वे दु:खी न हो तो और हों क्या ?

(१०९) स्पष्ट सुगम शान्तिवृत्त- एक सीधी सी बात यह मान लो कि ये जो चीजें अभी थोड़े ही दिनों के बाद में आपसे छूट जायेंगी, उन्हें अभी से छूटा हुआ मान लो। बस इतनी सी बात है। इतनी सी बात कर लेने से शान्ति का मार्ग प्राप्त हो जायगा। सो हे प्रभो ! आपके स्तवन के प्रसाद से मैं यह चाहता हूँ कि मेरी दृष्टि प्रसन्न हो जाय। यहाँ प्रसन्न का अर्थ है निर्मल। जैसे कहते है ना कि शरद ऋतु में छोटे-मोटे सभी पोखरे प्रसन्न हो जाते हैं अर्थात उनके जल में गंदगी नहीं रहती, सारी गंदगी नीचे बैठ जाती है और बिल्कुल स्वच्छ पानी हो जाता है। मैं प्रसन्न हूँ, इसका अर्थ है कि मैं निर्मल हूँ। यहाँ तो लोग पूछते है कि भाई आजकल आप कैसे हैं? तो लोग कह देते हैं कि हम तो आजकल बहुत प्रसन्न हैं, हमारे बाल-बच्चे सब अच्छी तरह हैं। सब लोग बड़े खुश हैं, बड़े मौज में रहते है आदि। तो प्रसन्न का अर्थ है निर्मल। निर्मलता का अर्थ है यथावत् ज्ञान होना। जो बात जैसी है वैसी ज्ञान में आना सो निर्मलता है। जीव-जीव में स्वरूप दृष्टि से कोई अन्तर नहीं हैं। सब जीव एक समान हैं। उसमें कोई रंचमात्र भी तो अंतर बता दे कि मेरे घर में रहने वाले जीवों में अन्य समस्त जीवों की अपेक्षा यह खासियत है। अरे जीव का स्वरूप देखो, सहज अस्तित्व को निरखो तो सर्व जीव एक समान हैं। जीव जीव में कोई अंतर नहीं।

(११०) निगोद में जाने का अभ्यास व्यामोह- जीवों में कोई ऐसी मिथ्या श्रद्धा करके मान ले कि ये मेरे घर के लोग ही मेरे सब कुछ हैं, इनसे ही मेरा जीवन है, इनके ही सुखी रहने में हम सुखी हैं और इनके दु:खी रहने में हम दु:खी हैं आदि तो देखो-वह यहाँ कर क्या रहा है ? अरे वह तो निगोद के जीवों की जो हालत है-जैसे एक साथ जन्म, एक साथ मरण, फिर एक साथ जन्म एक साथ मरण, जिस श्वास में जन्म लिया उसी श्वास में जन्म हुआ आदि, तो इसी प्रकार ऐसी मिथ्या श्रद्धा करने वाला व्यक्ति कि इनके सुखी रहने में हम सुखी हैं इनके दु:खी रहने में हम दु:खी हैं वह अपने परभव में (नरक निगोद आदि की

गतियों में) किये जाने वाले कार्यो का अभी से अभ्यास कर रहा है। एकेन्द्रिय में जैसे आलू आदिक कंद की चीजों में अनंत निगोदिया जीव रहते हैं तो वे एक साथ मरते, एक साथ जन्मते, एक साथ श्वास है तो ये दु:ख की बातें उसे जो परभव में करनी पड़ेगी, मानो उनका वह अभ्यास अभी से कर रहा है कि मैं इस कार्य को करने में अभी से कुशल हो जाऊँ। तो ऐसी हालत है इन संसारी मोही प्राणियों की।

(१११) वास्तविक प्रसन्नता—जिसकी दृष्टि निर्मल होगी, जिसका उपयोग अपने आपके आत्मस्वरूप में होगा बस वही प्रसन्न है, वही निर्मल है, वही सुखी है। वही सर्व प्रकार के संकटो से पार होगा। और जिसका उपयोग गंदा है, जिसके उपयोग में कषायें भरी हैं, जो विषयों में लीन है, उसके पास यदि धन-वैभव आदिक सब कुछ खूब भरें हों तो भी वे सब बेकार है। मिथ्यात्व से बढ़कर अन्य कोई पाप नहीं। सम्यक्त्व ही इस जीव का उद्धार कर देगा। यदि पाप रूक गए तो फिर जगत की और विभूति से हमें क्या प्रयोजन ? यदि मिथ्यात्व न रहा तो समझो कि सबसे बड़ा वैभव हमने पा ही लिया। यदि मिथ्यात्व न रूका, मिथ्यात्व रोग बराबर पड़ा है तो फिर इस जगत की विभूति से लाभ क्या ? यह विभूति मेरा क्या काम सरा देगी ? इससे अपने आप की सुध लो, अपनी दृष्टि निर्मल हो, अपने आपमें समाकर के शांत होने का अनुभव और अभ्यास कीजिए। इतना ही तो सार है इस नर जीवन में, बाकी तो सब असार है।

श्लोक 9

शान्तिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं, शीलगुणव्रतसंयमपात्रम्।
अष्टशतार्चितलक्षणगात्रं नौमि जिनोत्तममम्बुजनेत्रम्।।९।।

(११२) अशान्त आत्माओं के संग शान्ति का अलाभ—संसार का प्रत्येक जीव शान्ति चाहता है और प्रयत्न भी शांति के लिए ही करता है, किन्तु यह नहीं सोचता कि हम शान्ति का प्रयत्न ऐसा करें जिसका कि सम्बंध शान्त आत्माओं से हो । इस जीव ने अपना सम्बंध रखा अशान्त आत्माओं से। परिजन, मित्रजन, नाते रिश्तेदारों आदि के समागमों से अपना सम्बंध बनाकर शान्ति प्राप्त हो सके, ऐसा हो नहीं सकता । तब सोचिये कि शान्त कौन है ? तो पूर्ण शान्त हैं वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेव, जिनको संसार में करने के लिए कुछ भी काम नहीं रहा। संसारी जीव तो यह मानते हैं कि मुझे अब अमुक काम पड़ा है करने को, बस इसीलिए वे अशान्त हैं, कर कुछ नहीं सकते, पर मानते हैं कि मुझे अमुक काम करने को पड़ा है, बस यही सर्व अशान्तियों का मूल है। यदि यह जीव पर में कुछ कर भी लेता और कल्पनायें भी करता

जाता तब भी कुछ गनीमत थी, शान्त होने का कुछ अवकाश निकल ही आता, किन्तु बाह्य में अपना सम्बंध बना लेने के कारण इस जीव को त्रिकाल में भी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। तो जब बाह्य में कुछ सम्बंध ही नहीं और बाह्य की कल्पना करने पर तुले हुए हैं, एक अपनी सीमा बना ली है कि यह ही मेरा वैभव है, ये ही मेरे परिजन है, बस उनके ही विकल्प में पड़े हुए हैं, उनमें ही चैन मानते हैं। इन्द्रिय विषयों का साधन बना रखा है तो इन विषयों की प्रीति में और स्वच्छन्द मन के प्रवर्तनों में कभी भी सुख शांति मिल नहीं सकती।

(११३) शान्त आत्माओं के संग में शान्ति का लाभ—हम आप जिन अरहंत प्रभु को पूजते हैं, जिन तीर्थंकरों की भक्ति करते हैं उनमें है क्या बात ? वे शान्त हैं, संसार के संकटों से छूट चुके हैं। उनको अब कोई कार्य करने को नहीं रहा, उनकी जन्म मरण की परम्परा भी समाप्त हो गयी, क्षुधा तृषा आदिक के समस्त रोग मिट गए, परमौदारिक शरीर हो गया और निकट काल में ही वे शरीर रहित सिद्ध भगवान बनेंगे। जो अब भी सिद्ध हैं उनकी पूर्व अरहंत दशा को देखें। तो जो वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, निर्विकार हैं, वे ही आत्मा शान्त कहलाते हैं। ऐसे निर्विकल्प शान्त आत्माओं का सम्पर्क हो तो वहाँ शान्ति प्राप्त होगी। उन शान्त आत्माओं में मुख्य हैं अरहंतदेव। इस शान्तिभक्ति में शान्तिनाथ स्तवन की बात चल रही है।

(११४) दिव्योपदेशी संयममूर्ति शान्तिजिनेन्द्र को नमस्कार—हे शान्तिनाथ जिनेन्द्र ! आपका वक्त्र शशि की तरह निर्मल है । मुख और वक्र में फर्क होता है। हालांकि मुख का ही पर्यायवाची शब्द है वक्त्र, पर इन दोनों में फर्क है। मुख को ही वक्त्र कहते हैं, लपन कहते हैं, आस्य कहते हैं, लेकिन आस्य तो उस मुख को कहते हैं जिससे लार बहती है, लपन उस मुख को कहते है जो मुख अधिक लोलुपी होता है और बकवाद अधिक करता है और वक्त्र उसे कहते हैं जिससे वाणी बोली जाती है। तो भगवान के मुख की तारीफ तो इसी में है कि उनका दिव्य उपदेश होता है। तो शशि की तरह निर्मल है वक्त्र जिनका, ऐसे हे शान्तिजिनेन्द्र ! आपको नमस्कार हो । हे प्रभो ! आप शील, गुण, व्रत, नियम के पात्र हैं अर्थात जिनमें शीलव्रत आदिक लबालब भरे हुए हैं। जब आत्मा का उपयोग बाह्य से हटकर आत्मा में ही लगता है तब समझिये कि संयम से भर गये, व्रत शील आदिक से परिपूर्ण हो गए।

(११५) जीव की द्विविध कार्यपद्धति—जीव के दो ही तो काम चल रहे है-या तो अपने स्वरूप से चिगकर बाह्य पदार्थो में उपयोग लगा रहा हो या बाह्य से चित्त हटाकर अपने आपके ज्ञानघन आनन्दमय आत्मतत्व में लगा रहा हो। इन दो कामो के सिवाय और कुछ तो नहीं कर रहा यह जीव। जहाँ बाह्य की और दृष्टि है वह है इस जीव का असंयम और जहाँ अपने आपके स्वरूप में रमण् की बात है, वह है इसका संयम।

तो हे प्रभो ! आप व्रत, गुण, शील, संयम आदिक से परिपूर्ण हो। प्रभु की भक्ति करके दो काम करने हैं- एक तो अपने पाप कर्मो पर असंयम भाव पर खेद करना है और एक अपना जो ज्ञानानन्द स्वरूप है उसमें प्रीति लगाना है। भगवान की भक्ति के ये दो ही प्रयोजन है। इनके अलावा यदि कोई तीसरा प्रयोजन सोचते हैं तो वह उनका व्यर्थ का प्रयोजन है। तो प्रभु जो कि निर्विकार हैं उनका स्वरूप देखकर अपने आपके विकार पर खेद होना और अपना जो निर्विकार स्वरूप है उसमें रूचि जगना, यदि ये दो बातें बन सकती है तब तो उसकी भक्ति भक्ति है, और इन दो बातों में से किसी का भी सम्बंध नहीं है तो वह दिल बहलावा है अथवा एक तरह का व्यापार समझा है।

(११६) प्रभु से लौकिक लाभ की याचना की व्यर्थता – जो पुरूष सांसारिक सुखों की प्रार्थना करने के लिए प्रभु चरणों के निकट आया करते हैं उन्होंने क्या पाया प्रभु से ? अरे ये लौकिक समागम तो पुण्य के प्रताप हैं, सो दान कर लिया, कुछ परोपकार कर दिया, जरा –जरा सी बातों में ये लौकिक सुख मिल जाया करते हैं, लेकिन सदा के लिए आत्मा को शान्ति प्राप्त हो ऐसी बात मिलना दुर्लभ है। लौकिक समागम तो अनेक पाये, धन-वैभव, स्वर्ण, राजपाट ये अनेक बार प्राप्त किये, लेकिन मैं क्या हूँ, अपने स्वरूप की दृष्टि होना और अपने में रम करके संतृप्त रहना-ये बातें इस जीव ने अब तक नहीं प्राप्त कीं। तो प्रभुभक्ति करके दो ही प्रयोजन हमको सिद्ध करना है, अपनी व्यर्थ की करतूत पर खेद प्रकट करना है। कहाँ-कहाँ राग लगा रखा है, जड़ में चेतन में और राग के फल में मिलता कुछ नहीं है। केवल एक समय गंवाया जा रहा है, अपने चित्त को कलुषित किया जा रहा है तो उन रागों पर खेद करना चाहिए। देह में राग पहुँचे वह भी बुरा, पुत्र परिवार में राग पहुँचे वह भी बुरा। एक गृहस्थी में रहकर एक जीवन गुजारने के लिए धर्मपूर्वक हमारा जीवन गुजरें, इस प्रयोजन के लिए आपसी व्यवहार है। जो कुछ अनुराग रहता है घर में वह भी धर्मसाधन के लक्ष्य से रहता है, न कि विषय साधन के लक्ष्य से। जिसको सम्यक्त्व हुआ, ज्ञान जगा, उसका लक्ष्य ही बदल गया। मेरा जीवन धर्म के लिए है। मैं आत्मा को जानूँ, आत्मा में रहूं, इसके लिए ही मेरा जीवन है, यह एक लक्ष्य उसका बन गया। आत्मा का स्वरूप क्या है, उस पर निगाह पहुँचे और आत्मस्वरूप से विपरीत दृष्टि बनने पर तो खेद होना चाहिए। तो ये दो बातें आना चाहिए प्रभुभक्ति करके।

(११७) शान्तिप्रभु की अष्टशतार्चितलक्षणगात्रता—यहाँ शान्तिभक्ति में, शान्तिनाथ भगवान के स्तवन में कह रहे हैं कि हे प्रभो ! आप १००८ लक्षणकरकेशोभित शरीर वाले हो। शरीर की रचना तो कर्मो के उदय से ही होती है। खोटा शरीर मिलेगा तो पापकर्म के उदय से ही मिलेगा और पवित्र शरीर मिलेगा तो पुण्य

कर्म के उदय से मिलेगा । ये शरीर के सभी लक्षण होना पुण्य पाप के चिन्ह हैं। जैसे किसी का शरीर रूखा अटपटा, विसंस्थुल अनेक प्रकार का विडम्बना रूप होता है तो उसकी जिन्दगी भी आप देखेंगे प्राय: विडम्बना रूप होती है। प्रभु में पुण्य इतना विशाल होता है कि जिसकी तुलना के लिए कोई दूसरा संसारी नहीं मिलता । उनके देह में १००८ शुभ लक्षणों का होना यह कोई विस्मय की बात नहीं है। हे जिनेन्द्र देव, कमल की तरह जिनके नेत्र हैं, अर्द्धमीलित स्थिर आत्मीय आनन्द की झलक देने वाले नेत्रों से सुशोभित ऐसे हे शान्ति प्रभो! आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

(११८) प्रभुभक्ति की क्लेशविनाशोपायरूपता—समस्त क्लेशों को मेटने का उपाय प्रभुभक्ति है। प्रभुभक्ति से सारे क्लेश मिट जाते है, लेकिन प्रभुभक्ति हो, प्रभु के यथार्थ स्वरूप को निरखकर। प्रभु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है जितेन्द्रिय ओर क्षीणमोह तथा सर्वज्ञ अवस्थाओं से। प्रभु जब मुनि परमेष्ठी थे तब उनकी जितेन्द्रियता पूर्ण थी। उस आत्मा ने अपने आपके स्वरूप को इन्द्रियों से व विषयों से निराला और तर्क वितर्क विचार विषयानुभव से निराला केवल ज्ञानमात्र ही निरखा। उस ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा को लख-लखकर जो-जो तृप्ति प्राप्त की उसके प्रताप से उनकी कषायें, उनका मोह सदा के लिए समाप्त हो गया। जहाँ मोह दूर हुआ कि सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। जैसे राख में दबी हुई अग्नि यद्यपि वह अग्नि भीतर ही भीतर अपने तेज प्रताप को लिए हुए है तथा ऊपर से राख पड़ी हुई है तो उसका रूप व्यक्त नहीं हो पाता है। इसी तरह समझिये कि आप कर्म विकार राग द्वेष की राख से दबे हुए हैं, भीतर में तो वही प्रताप है जो प्रभु ने प्रकट किया, लेकिन वह प्रताप मेरा मेरे विकार से दबा हुआ है, और विकार भी बिल्कुल व्यर्थ के। भव-भव में मोह किया, भव भव में रागद्वेष किया, पर नफा क्या मिला ? बल्कि सारा टोटा ही टोटा रहा। मोह करक जन्म मरण की जो परम्परा बाँध ली उसका फल अब भी भा भोग रहा है।

(११९) वर्तमान अल्प जीवन में सहज परमात्म तत्त्व की सुध का मुख्य कर्तव्य- अब इस भव में भी हम अपनी कुछ सुध न रखकर राग द्वेष मोह आदिक विकारों में लग रहे हैं तो उसका फल क्या होगा-इस पर तो विचार करों। जिन्दगी तो मिटेगी निकट काल में ही। आजकल तो मनुष्यों की उम्र ही कितनी है? पहिले लाखों करोड़ों वर्ष तो एक मामूली सी बात थी। जहाँ पल्य की आयु बताई गई वहाँ लाख करोड़ वर्ष तो कुछ चीज ही नहीं है। आजकल तो निकट काल में ही सब कुछ छूट जाने वाला है, लेकिन यहाँ जो मोह रागद्वेष किया, जो बाह्य पदार्थो में उपयोग लगाया उसके फल में जन्ममरण की संतति चलती रहेगी। यहां से मरण करने के बाद न जाने क्या बनना पड़ेगा और न जाने किस तरह के दु:ख भोगने

पड़ेंगे ? यह संसार बहुत बड़ा गहन वन है। इसका विस्तार असंख्याते योजन का है। इतने क्षेत्र में कहीं का कहीं जन्म लेने से लाभ क्या मिलेगा ?

(१२०) प्रभु की जितेन्द्रियता, निर्विकल्पता व सर्वज्ञता- हे प्रभो! आप तो जितेन्द्रिय हो, जितेन्द्रियता एक बहुत बड़ा तप है। ये संसारी जीव तो इन इन्द्रिय विषयों में ही रत रहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक ये समस्त संसारी प्राणी इन विषयों के आधीन हैं, और दु:ख भी इतना ही है। इन विषयों को जीतना ओर विषय रहित ज्ञानमात्र निज स्वरूप पर दृष्टि रखना, अन्य सबकी उपेक्षा करना और इस ही स्थिति में तृप्त रहना, कोई इच्छा उत्पन्न न हो सके, किसी भी असार बाह्य पदार्थ के सम्बंध में कोई आकांक्षा न जगे। यह तो एक महातप है। इस जितेन्द्रियता के महान तप के प्रभाव से उन प्रभु ने निर्विकल्प समाधि प्राप्त की। अब जिस पदार्थ को जाना उस पदार्थ के जानने में तो थे ही, साथ ही सकलार्थ ज्ञान हो गया। तो ऐसा सर्वज्ञपना पाना, यह उनकी निर्मोहता का प्रताप है।

(१२१) यथार्थ ज्ञान और विरक्ति का कर्तव्य-बात बिल्कुल स्पष्ट है। जिन्हें भी शान्ति चाहिए उन्हें इन रागद्वेष मोहादि विकल्पों को छोड़ना चाहिए। लेकिन मोह में उपाय भी उल्टा ही सूझता है। मोह से ही तो दु:ख होता है और उस दु:ख को मेटने का उपाय भी मोह रागद्वेषादि करना समझते हैं। परन्तु ये सब उपाय विपरीत हैं। यदि सुख शान्ति चाहिये तो मोह राग द्वेषादि छोड़ो । मोह रागद्वेष छोड़ने का यह उपाय है कि जिनमे मोह राग द्वेषादि कर रहे हैं उन सब पदार्थो का यथार्थ ज्ञान कर लें। यथार्थ ज्ञान होने से ये रागद्वेष मोहादि स्वयं ही दूर हो जाते हैं। एक कथानक है कि एक राजपुत्र किसी सेठ की बहू पर आसक्त हो गया। वह उस बहू से आकर बोला तो बहू ने कहा-अच्छी बात है। आप १५ दिन बाद अमुक दिन अमुक समय पर आ जाना। उन १५ दिनों में सेठ की बहू ने क्या किया कि जुल्लाब ले लिया, खूब कै, दस्त आदि कर-करके अपने शरीर को अति दुर्बल बना दिया। और उस समस्त कै दस्तादिको किसी एक मटके के अन्दर करती गई, और उस कै, दस्त आदिक से भरे हुए मटके को पत्तों से , पुष्पों से व रंगो से सजाकर बड़ा कान्तिमय बना दिया। जब १५ वें दिन वह राजपुत्र आया और उस बहू को देखकर आश्चर्यचकित हो गया। उस बहू से पूछा कि क्या आप वही हैं? आपकी वह सुन्दरता कहां गई ? तो वह बहू बोली--जिस सुन्दरता से आप प्रीति करना चाहते थे उस सुन्दरता को हमने सुरक्षित रख दिया है, चलो दिखायें। उस राजपुत्र ने जब उस मटके को उघाड़कर देखा तो मारे दुर्गन्ध के उससे वहाँ खड़ा न रहा गया और अपनी बेवकूफी पर बड़ा पछतावा करता हुआ अपने घर वापिस चला गया। तो बात क्या है? जिस देह पर लोग आसक्त होते है वह देह है क्या ? मल-मूत्र, खून, पीप, मांस-मज्जा आदिक का ही तो

पिण्ड है। यदि यह बात यथार्थ ज्ञान में आ जाय तो विषयों की वृत्ति हट जायगी।

(१२२) भेदविज्ञानपरक वस्तुस्वरूपज्ञान शुद्धवृत्ति का आरम्भ—जगत के जितने पदार्थ हैं वे सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप को लिए हुए हैं। किसी का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी अन्य में नहीं पहुंचता। जैसे आपके शरीर के हाथ कितने ही काम कर डालते हैं – पेन्सिल बनाना, लिखना, कागज धरना, उठाना आदिक, पर उन समस्त प्रसंगों में भी हाथ तो अपने आप में ही अपनी क्रिया कर रहे हैं, बाहर में जो कुछ भी क्रिया हो जाती है उसको हाथ नहीं करते। वे सब कार्य निमित्त–नैमित्तिक सम्बंध से हो जाते हैं । और यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। इसी तरह से हम आपका जो आत्मा है वह है भावस्वरूप, चैतन्यमात्र, केवल जाननदेखन अथवा रमण। विपरीत चले तो राग, द्वेष, कुछ भी भला बुरा करने का भाव तक ही हम आपकी करतूत है। इससे आगे हम आपकी कोई करतूत नहीं है। तो जब हम भावों के सिवाय और कुछ कर नहीं सकते तो हम इस बात पर दृष्टि दें कि हम बुरे भाव न करें। बुरे भाव करके हम क्यों दु:खी हों ? शुद्धभावों की ओर आयें। और इसके लिए यह एक बल है कि सर्व पदार्थो को भिन्न जानकर उनसे उपेक्षा कर दें, उनसे अपना हित न समझें, अपना सुख न समझें तो इस उपेक्षा भाव से हम अपने आप में आ सकते हैं और शान्त सुखी हो सकते हैं।

(१२३) प्रभुपथगति में प्रभुभक्ति—भैया ! हम लोग प्रभु की भक्ति करते हैं, पर प्रभु ने क्या किया-उस बात पर दृष्टि न दें और उस बात पर जरा भी न चलें तो मात्र थोथी प्रभुभक्ति से काम नहीं बनने का। और अधिक न बने तो श्रद्धा तो यह रहे कि हे प्रभो ! जो आपने किया मार्ग वही है। शान्तिपाने का, अन्य कोई शांति पाने का मार्ग नहीं है। हमारा विश्वास तो जमे और ऐसी अपने आपमें रूचि तो बने तो प्रभुभक्ति हमने की अन्यथा तो तफरी की तरह है। उससे कही आत्मा का कल्याण नहीं होता। क्या किया प्रभु ने? प्रभु के सर्वप्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ। उस ही सम्यक्त्व की चाह रखिये। मेरा मिथ्यात्व दूर हो ओर सम्यक्त्व प्राप्त हो। कैसे सम्यक्त्व प्राप्त हो । सम्यक्त्व की उत्पत्ति करने में कारण तो आप ही हैं, मगर जान-बूझकर विकल्प करके तो सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न होता , लेकिन विकल्प करके सम्यक्त्व उत्पत्ति का साधन बना सकते है। और वह साधन है जीवादिक ७ तत्वों का श्रद्धान । देखिये—एक मुख्य बात है - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन ७ तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करना लेकिन कुछ भक्त ऐसे होंगे कि जिन्हें बीसों वर्ष गुजर गए प्रभुभक्ति करते करते, लेकिन अभी उन ७ तत्वों का नाम क्या है, स्वरूप क्या है, सम्यक्त्व के साधन का ही पता नहीं है तब बतलावो कि उस भक्ति से फायदा क्या। वीतराग प्रभु का इतना जबरदस्त शरण मिला है। हम यदि प्रभुस्मरण के लायक बन गए हैं तो यथार्थ

पद्धति से भक्ति करें तो हम लाभ पा सकते हैं। प्रभु का उपदेश है कि सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करो।

(१२४) सम्यक्त्व निर्देश—सम्यक्त्व क्या है? परद्रव्यों से भिन्न जो अपना आत्मस्वरूप है उसमें रूचि करना इसका नाम सम्यक्त्व है। बस यह ज्ञानानंद धाम, मैं आत्मा पवित्र आनन्दधाम हूँ, यही कल्याणमय है। बस इस ओर आना है, यही दृष्टि रखना है , फिर कल्याण है, सर्व आपत्तियों से छुटकारा हो जायगा। तो पर पदार्थो से निराले ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्व में रूचि जगना बस इस ही का शरण वास्तविक शरण है। इस ही में रम जायें, यही मेरा सर्वस्व कल्याण है। बाह्य पदार्थो में उपयोग का लगाना महान् विपदा है। अब इस सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए याने परद्रव्यों से निराले ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूप में रूचि प्रकट करने के लिए कार्य क्या करें? वह कार्य बताया गया है-जीवादिक ७ तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करना।

(१२५) जीवतत्व के सम्बंध में ज्ञानी का श्रद्धान—यह सहज शुद्ध जीव केवल ज्ञान दर्शन मात्र हैं, प्रतिभास मात्र है। मैं आत्मा केवल ज्ञानदर्शनात्मक हूँ। रागादिक विकार मेरे स्वरूप में नहीं हैं। जैसे सिनेमा के पर्दे पर चित्र पड़ते हैं वे चित्र पर्दे का स्वरूप नहीं है, पर पर्दे पर पड़ा हैं इसी प्रकार रागादिक विकार मेरे स्वरूप नहीं हैं, पर अति जरूर हैं, लेकिन ये मैं नहीं हूँ। मोहीजन उन विकारों को आत्मस्वरूप मानकर उन विकारों की वृद्धि में ही, उन विकारों में रमने में ही अपना हित समझ लेते हैं। उन्होंने जीवतत्व का स्वरूप नहीं समझा, इस कारण उन पर मिथ्यात्व लदा हुआ है। जीव का स्वरूप है विशुद्ध ज्ञान दर्शन मात्र। उसे निरखो, यह जीव तत्त्व का सही श्रद्धान है। लोक में जीव तीन प्रकार के पाये जाते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो बाह्य पदार्थो में यह मैं हूँ इस प्रकार की बुद्धि रखते हैं वे बहिरात्मा हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। जो आत्मा के अन्त:स्वरूपमें यह मैं हूँ ऐसी बुद्धि रखते हैं वे अन्तरात्मा हैं, ज्ञानी हैं और जो विकारों से दूर हो गए, परम हो गए वे कहलाते हैं परमात्मा। बहिरात्मापना तो हीन दशा है, अन्तरात्मा होना यह परमात्मा बनने का उपाय है, और जिस काल समस्त विकारों से रहित रागद्वेषादिक बंधन से रहित मात्र आत्मस्वरूप रह गया उसे कहते हैं परमात्मा। इन पद्धतियों में जीव का स्वरूप जान लेने पर परद्रव्यों से भिन्न अपने आप के स्वरूप में रूचि प्रकट होती है।

(१२६)अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष के संबंध में ज्ञानी का श्रद्धान--यह जो देह है वह अजीव है, मुझ से निराला है, इसकी प्रतीति में आत्मा का अहित है। यह तो छूटेगा ही, मैं अपने भिन्न स्वरूप को लिए हुए हूँ। यों अजीव से निराला अपने आपको देखना, अपने से भिन्न अजीव तत्त्व को देखना यह है अजीव तत्त्व का सही श्रद्धान। जीव में कर्म आते है मिथ्यात्व के कारण, असंयम के कारण, कषायों के कारण और इच्छा के कारण । मुझे इच्छा न करना चाहिए, विषयकषायों से अलग रहना चाहिए। होते हैं

तो इन्हें विकार मानें, दु:ख के हेतुभूत मानें। इनसे रूचि न पैदा हो। यह स्वभाव के सत्य श्रद्धान से आपकी रूचि पैदा होने का एक विधान है। कर्म बँधते है रागद्वेष से । कर्मबन्धन से इस जीव को अनेक दुर्गतियों में जन्म लेना पड़ता है। ये कर्म यदि न बँधें, छूट जायें तो हमारा इन दुर्गतियों में भ्रमण का चक्कर मिट जायगा। यह इसका उपाय यही है कि आत्मा का राग द्वेष रहित ज्ञानमात्र स्वरूप देखिये -आत्मज्ञान के जागृत होने से ये समस्त राग द्वेषादिक विकार झड़ जायेंगे और मोक्ष की प्राप्ति होगी। मोक्ष ही इस जीव का परम धाम है। बस एक यही बाट जोहिये कि मुझे मुक्ति कब प्राप्त हो? जैसे ये लौकिक जन अनेक प्रकार की इच्छायें करके उनकी पूर्ति होने की बाट जोहा करते हैं, इसी तरह से हम आप भी मोक्ष प्राप्ति की बाट जोहें।

(१२७)सम्यक्त्वलाभ के यत्न में देव गुरु धर्म की यथार्थ प्रतीति का कर्तव्य—उक्त प्रकार से जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष –इन ७ तत्वों के यथार्थ श्रद्धान से अपने आपके स्वरूप में रूचि प्रकट होती है। साथ ही इतना और अपना संकल्प बनाये कि धर्म में लगने का, सम्यक्त्व प्राप्त करने का श्रेय सच्चे देव, शास्त्र, धर्म ओर गुरु को है। सच्चा देव वह है जिसमें रागद्वेष मोहादिक रंचमात्र भी न हों। बस वही मेरा प्रभु है, वही मेरा आदर्श है। गुरु वह है जिसके पास पिछी, कमंडल और पुस्तक इन तीन उपकरणों के सिवाय अन्य कोई चीज न हो। इनके अतिरिक्त यदि कुछ भी चीजें साथ में रखता है तो वह गुरु नहीं है । धर्म वह है जिसमें वस्तुस्वरूप का यथार्थ प्रकाश है, आत्मकरूणा से जो ओत प्रोत हो सब जीवों पर करूणा है और अपने आपके स्वरूप की दृष्टि है। यों सच्चे देव, शास्त्र, गुरु इन तीन से हमारा संबंध है। उनकी उपासना से हमारी आन्तरिक भावना शुद्ध होगी तो हम सम्यक्त्व के पात्र होंगे । प्रभु का उपदेश है कि सम्यक्त्व प्राप्त करो, फिर संयम में बढ़ो। बाह्यपदार्थो से निवृत्ति प्राप्त करो ओर अपने आपमें रत होकर कर्मो को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करो। यह उपाय यदि हमारे चित्त में आता है प्रभुभक्ति करके तो समझो कि हमने सही ढंग से प्रभुभक्ति की।

श्लोक 10

पंचममीप्सितचक्रधराणां पूजितमिंद्रनरेन्द्रगणैश्च।
शांतिकरं गणशांतिमभीप्सु: षोडशतीर्थंकरं प्रणमामि।।१०।।

(१२८) पंचम चक्रवर्ती एवं सोलहवें तीर्थंकर देव के प्रति प्रणमन—मैं सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथप्रभु को नमस्कार करता हूँ। जो पंचम चक्रवर्ती थे तथा इन्द्र नरेन्द्र आदिक समूह के द्वारा पूजित हुए, ऐसे सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र को जो कि शांति के करने वाले हैं, उस चतुर्विध संघ की शांति चाहता हुआ प्रणाम करता हूँ। प्रभु का प्रणाम करने का प्रयोजन बताया है कि जो चार प्रकार का संघ है—मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इस समस्त संघ की शांति के लिए मैं प्रणाम करता हूँ। चार प्रकार के संघ में सभी धर्मात्मा पुरूष आ गए। जो निष्पृह हैं वे आये मुनि अर्जिका में और जो घरवाले हैं वे आये श्रावक श्राविका में। उनकी शांति प्राप्त हो, उन्हीं में हम भी हैं, यह कहने वाला भी है, तो मैं अपने लिए अलग से कहकर शांति चाहूं, उससे यह उदार वाली भावना है कि चार प्रकार संघ को शांति दीजिए।

श्लोक 11

दिव्यतरूसुरपुष्पसुवृष्टिर्दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ।
आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मंडलतेज:।।११।।

(१२९)अशोकवृक्ष प्रातिहार्य—जिनके ये ८ प्रातिहार्य शोभायमान होते हैं उन शांतिजिनेन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ। पहिला प्रातिहार्य है अशोकवृक्ष, दूसरा है पुष्पवृष्टि , तीसरा है दुन्दुभि बाजे की ध्वनि होना, चौथा-सिंहासन, पाँचवाँ-दिव्यध्वनि, छठवाँ-छत्रत्रय, सातवाँ-चामर और आठवाँ-भामण्डल। ऐसे ८ प्रातिहार्य जिनेन्द्र भगवान में होते हैं। प्रातिहार्य का अर्थ क्या हैं ? प्रतिहार का अर्थ है दरबान। वहाँ का (समवशरण का) दरबान था इन्द्र । प्रतिहार के द्वारा जो रचना की जाय, सेवा की जाय उसे प्रातिहार्य कहते हैं। भगवान जहाँ विराजमान हैं वहाँ अशोकवृक्ष की रचना हो जाती है। नाम भी अशोकवृक्ष है, जो यह सूचित करता है कि जो भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव के चरणों में आयगा वह शोक रहित हो जायगा। मानो इस तरह जो जीवों को आशीर्वाद सा दे रहा है। यो एक अशोकवृक्ष नाम का प्रातिहार्य है।

(१३०) सुरपुष्पवृष्टि प्रातिहार्य –दूसरे प्रातिहार्य का नाम है पुष्पवृष्टि । ऊपर से पुष्पों की वर्षा होती है, जो पुष्प बरसकर लोगों को यह बतला रहे हैं कि देखो हमारी शक्ल। पुष्प जब ऊपर से नीचे को गिरता है तो उसका जो फूल का भाग है वह तो नीचे की और रहता है और डंठल वाला भाग ऊपर की और रहता है,

लेकिन उस फूल की नीचे गिरते-गिरते शक्ल बदल जाती है। डंठल वाला भाग तो नीचे की और हो जाता है और फूल वाला विकसित भाग ऊपर की ओर हो जाता है। तो वह गिरता हुआ फूल दुनिया के लोगों को यह शिक्षा दे रहा है कि भगवान के चरणों में आयगा उसका बन्धन निम्न हो जायगा अर्थात ढीला पड़ जायगा । बंधन नाम डंठल का भी है। बंधन नामकर्म बंधन का भी है। मानो इस तरह का सन्देश देते हुए सुरपुष्प बरस रहे हैं।

(१३१) दुन्दुभि और सिंहासन प्रातिहार्य—तीसरा प्रातिहार्य है दुन्दुभि बाजे की ध्वनि। जो बड़े तेज ध्वनि से बोलकर मानो यह कह रही है कि ऐ आत्मकल्याण के इच्छुक पुरूषों ! यदि तुम्हें अपना कल्याण चाहिये हो तो यहाँ वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के निकट आवो । चौथा प्रातिहार्य है सिंहासन । सिंहासन अर्थ है श्रेष्ठ आसन। कहीं शेर के जैसे आकार वाला कोई बैठा हो सो बात नहीं है। सिंहासन का अर्थ है श्रेष्ठ आसन। सिंह का अर्थ है श्रेष्ठ। ऐसा श्रेष्ठ आसन है अर्थात ऐसा सिंहासन है जो कि बड़े अमूल्य रत्नों से जटित है। आखिर प्रातिहार्य ही तो है। जिसकी रचना इन्द्रों द्वारा होती है ऐसे प्रातिहार्य सिंहासन पर विराजमान हैं।

(१३२) दिव्यध्वनि प्रातिहार्य—५ वाँ प्रातिहार्य है दिव्यध्वनि। भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है यह तो है भव्य जीवों का पुण्योदय और प्रभु के वचन योग का काम, किन्तु यह ध्वनि चारों तरफ खूब फैले ओर कुछ उस ध्वनि में से जुदी-जुदी भाषाओं जैसा भी कुछ परिवर्तन सा होकर लोगों के कानों में पड़े यह है प्रातिहार्य। जब यहाँ आविष्कारक मनुष्य इस ध्वनि का कुछ-कुछ आविष्कार कर रहे हैं। लाउड स्पीकर तो है ही। फिर इन्द्र परिकल्पित सिंहयन्त्र की तो प्रशंसा ही क्या की जा सके, जो प्रभु के उपदेश को लाउड कर दे, बहुत ऊंची आवाज को कर दे कि बहुत दूर तक बैठे हुए लोगों को भी सुनाई दे। साथ ही कुछ-कुछ उसका अनुवाद भी अनेक भाषाओं में हो जाय। ऐसी कुछ प्रक्रिया वृहस्पति अथवा इन्द्र द्वारा की जाती है। इन्द्र का अर्थ है जो इन्दन करे, ऐश्वर्यशाली हो। वृहस्पति का अर्थ है-बहुत बड़ा स्वामी। वाचस्पति का अर्थ है-वचनों का स्वामी। इन्द्र द्वादशांग का वेत्ता होता है, फिर भी श्रुतकेवली नहीं कहला सकता, लेकिन ज्ञान उसका इतना ऊँचा होता है।

(१३३)छत्रत्रय, चमर व भामंडल प्रातिहार्य—छठा प्रातिहार्य है छत्रत्रय। तीन छत्र हैं जो मानो दुनिया से यह कह रहे है कि तीनों लोक के वृहस्पति (स्वामी) तो यह हैं, जिन पर तीन छत्र शोभयमान होते हैं। ७ वाँ प्रातिहार्य है चामर। एक शोभा है, भगवान की भक्ति है। कही भगवान के शरीर पर मक्खियाँ बैठती हों और चमर ढुलते हों, सो बात नहीं, लेकिन पूज्य पुरूषों की यह एक शोभा है कि जिन पर चमर ढुलते चले जा रहे हैं। ८ वाँ प्रातिहार्य है भामंडल। जिनके शरीर की आभा का मण्डल बन गया है। कुछ प्रभु के शरीर की

कान्ति थी और कुछ देवों ने अतिशय बनाया है यह। इस तरह ये ८ प्रातिहार्य हैं। अब अगले श्लोक में कहेंगे कि इस प्रातिहार्य से शोभित शांतिभगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

श्लोक 12

तं जगदर्चित शान्ति जिनेन्द्रं, शान्तिकरं शिरसा प्रणमामि।
सर्वगणाय तु यच्छतु शान्तिं, मह्यमरं पठते परमां च।।१२।।

(१३४) जगदर्चित शांतिजिनेन्द्र प्रतिप्रणमन—उक्त ८ प्रातिहार्यो से शोभायमान समस्त जगत के द्वारा पूज्य शांति करने वाले शांतिनाथ जिनेन्द्र भगवान को मस्तक झुकाकर मैं नमस्कार करता हूँ। ये प्रभु समस्त गुणसमूह के लिए, मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका, चतुर्विध संघ के लिए, समस्त जीव-समूह के लिए शांति को प्रदान करें। और विशेषतया इसको पढ़ने वाले मेरे लिए उत्कृष्ट शांति प्रदान करें। पूजा में उदारता में इतना पढ़कर भी भक्त अपने लिए कुछ विशेषता से शांति की याचना कर रहा है। वह जानता है कि हमारा वश हमारी शांति पर है, दूसरे की शांति की तो अभिलाषा भर कर पाते हैं। दूसरे की शांति के कर सकने वाले हम नहीं हैं। जिनप्रभु के उपदेश से, जिनप्रभु के गुणों के स्मरण के प्रताप से मुझमें यह बात प्रकट हुई है उनके प्रति पूर्ण बहुमान और विनय उत्पन्न होता है।

(१३५) परमोपकारी के प्रति कृतज्ञता – भैया ! तत्वचर्चा की बात और भक्ति-व्यवहार की बात और है। तत्वचर्चा में यह कहा जा सकता है कि पिता ने पुत्र को क्या पैदा किया ? जीव हैं, दुनिया में वे अपने कर्म बाँधते हैं, आयु का उनका उदय है, जिस जीव का जैसा योग है वह वहाँ उत्पन्न होता है । पिता तो एक ऊपरी निमित्तत्त मात्र है। लेकिन कोई पुत्र अपने पिता से इस तरह भी कहेगा क्या कि ऐ पिताजी, तुमने हमारा क्या किया? मैं तो चतुर्गति में भटकता-भटकता स्वयं ही आ गया, तुम तो सिर्फ बाहरी निमित्तत्त मात्र हो, तुमसे हमारा कुछ भी सम्बंध नहीं है, इस तरह का व्यवहार तो कोई भी पुत्र अपने पिता के साथ नहीं करता ।यह तो है लौकिक बात, फिर भी कदाचित् कोई यहाँ ऐसा व्यवहार कर दे तो कर दे, किन्तु प्रभुभक्ति के समय वह भक्त क्या यह कह उठेगा कि हे भगवन! तुम मेरे कुछ नहीं लगते हो। तुम परद्रव्य हो, तुम से मुझ में कुछ नहीं आता, मुझ में जो कुछ भी होता है वह मेरी योग्यता के अनुसार

होता है, आप से कुछ भी चीज निकल कर मेरे में नहीं आती आदि, तो यह भी प्रभुभक्ति का कोई नमूना है क्या? तो प्रभुभक्ति के समय पूर्ण कृतज्ञता प्रकट की जाती है । हे नाथ ! यदि आप न होते, आपका उपदेश न होता तो ये संसार के प्राणी वस्तुस्वरूप का ज्ञान कहाँ से कर पाते? ओर फिर ये मोक्ष का मार्ग अपना कैसे बनाते? इसलिए हे प्रभो ! आपके वचन धन्य हैं, आप परमोपकारी हैं। तो यों प्रभुभक्ति में स्वरूप उपासना करते-करते प्रभु से प्रार्थना की जा रही है कि सबको शांति प्रदान करो, मुझको भी शांति प्रदान करो। वचन तो ये है परभाव और पद्धति रीति, प्रभाव ये हैं गुण स्मरणरूप । उस काल में स्वयं भक्त के गुण विकसित हो रहे हैं ओर वह उससे अपने आप में शांति प्राप्त कर रहा है।

(१३६) प्रभु और भक्त का नाता—हे जगत पूज्य अष्ट प्रातिहार्य से शोभित शांति के करने वाले शांति जिनेन्द्र! आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आप सब गण के लिए शांति प्रदान करें ओर मुझको भी(इस पढ़ने वाले को भी) शान्ति प्रदान करें। एक कवि ने तो यह तक कहा कि हे प्रभु ! आपने अधम से अधम अनेक जीव तारे। धन्य है आपके उपकार को। आपने कितने ही पुरूषों को तार दिया, उनको तारते तारते आप थक गए होंगे तो आप हमें धीरे-धीरे तारना । यह कवि द्वारा भगवान पर भक्ति भीनी दया की जा रही है। हे प्रभों ! तारने की प्रार्थना तो है, मगर धीरे-धीरे तारना, जल्दी कुछ नहीं है। हम आपको कष्ट नहीं देना चाहते । तारना, उठाना, उन्नत करना, विकसित करना, ऊँचा बनाना-इन सबका एक ही अर्थ है ना, लेकिन मैं तो एक उलझन में पड़ गया कि भगवान भक्तों को तारते हैं या भक्त भगवान को तारते हैं। अरे उलझन क्यों पड़ गयी? यों कि जैसे कहते हैं ना कि अगर भगवान न होते तो ये भक्त कैसे ऊँचे उठते, कैसे विकसित हो पाते, तो हम यहाँ यह कहते कि अगर ये भक्त न होते तो भगवान कैसे विकसित होते, लोग उनको कैसे जानते, उनकी कैसे महिमा फैलती, कैसे प्रभावना होती ? लो अब इन दो बातों के सामने आने पर एक उलझन आ गयी कि भगवान भक्त को तारते हैं या भक्त भगवान को तारते हैं ? ओह ! समस्या सुलझ गयी। कुछ परवाह नहीं, दोनों बातें मान ली जायें । कैसे मान ली जायें दोनों बातें? जैसे कोई पुरूष नदी में तैरकर पार निकलना चाहता है तो मसक में हवा भरकर, उसका मुँह बन्द करके उस मसक पर छाती रखकर तैरकर पार हो जाता है, तो वहाँ यह बताओ कि मसक ने उस पुरूष को तिरा दिया कि उस पुरूष ने मसक को तिरा दिया ? मसक भी तो उस पुरूष के तिराये बिना दूसरी पार नहीं जा सकती थी। और वह पुरूष भी मसक के तिराये बिना दूसरी पार नहीं जा सकता था। तो वहाँ जैसे ये दोनों बातें माननी पड़ती हैं कि मसक ने उस पुरूष को तिराया और पुरूष ने उस मसक को तिराया, इसी

प्रकार यहाँ भी यह मानना पड़ेगा कि भगवान ने भक्तों को तारा तो भक्तों ने भी भगवान को तारा। देखो भगवान के स्वरूप का परिचय होने पर भगवान से कैसी प्राइवेसी हो जाती , कुछ भी कह लो।

(१३७) अन्तस्तत्व की परिचयी की ऊंची अभ्यर्थना—जब अन्त:स्वरूप का परिचय हो जाता है तब फिर प्रभु से घुल मिलकर बात होती है। डर तो रहता नहीं। तो जो भक्त ऐसे प्रभु के स्वरूप के निकट पहुंच गया वह प्रभु से घुल-मिलकर बातें करता है, स्वरूप में अपने आपको घुमा फिरा भी देता है। प्रभुभक्ति क्या है, आत्मभक्ति क्या है? जो आत्मस्वरूप है उसकी ही तो भक्ति है। यहाँ शांति जिनेन्द्र भक्ति की उपासना में प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! सर्व संघ को शांति प्रदान करो, विशेषतया इस पढ़ने वाले मुझ भक्त को भी उत्कृष्ट शांति प्रदान करों । जब बाह्य पदार्थो की असार जानकर, उनसे विकल्प हटाकर एक विश्राम की स्थिति में पहुँचते हैं तब इस स्तवन का मूल्य विदित होता है। कितना उत्तत्तम सत्संग है कि प्रभु स्वरूप ह्रदय में विराज रहा हे। बाहरी सत्संग तो दूर-दूर रहते हैं, लेकिन यह सत्संग आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में बस गया है। सत्संग तो वह सत् जिसका संग किया जा रहा है वह दूर रहता है, भिन्न रहता है, किंतु इस सत्संग में यह स्वयं है, अपने में अभिन्न तत्व है । उस सत्संग में, परमार्थ सत्संग में रहकर यह भक्त शांति की प्रतीक्षा कर रहा है।

श्लोक 13

येभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नै:।
शक्रादिभि:सुरगणै:स्तुत पादपद्मास्।।
ते मे जिना प्रवरवंश जगत्प्रदीपा:।
तीर्थकरा: सततशान्तिकरा भवन्तु।।१३।।

(१३८)सुरगणाभ्यर्चित शांतिदेव से शांति की अभ्यर्थना—जो इन्द्रादिक देवगणों के द्वारा मुकुट हार कुण्डल रत्न आदिक से पूजे गए थे- जब प्रभु का जन्म हुआ था जन्म-कल्याणक के समय अभिषेक के बाद उनको मुकुट कुण्डल, हार, रत्न, अंगूठी आदि पहिनाये गए थे, देवोपनीत आभूषणों से सुसज्जित किए गए थे, ऐसे

हे जिनेन्द्रदेव ! जिनके चरणकमल की स्तुति बड़े-बड़े देवों के द्वारा की गई है, जो उत्कृष्ट वंश में उत्पन्न हुए है, जो तीन लोक के जीवों को सन्मार्ग दिखाने के लिए दीपक के समान हैं, ऐसे तीर्थंकर जिनेन्द्रेव ! शांति के प्रदान करने वाले हों। (यह साकार उपासना की बात चल रही है) बाह्य वैभव के स्तवन के माध्यम से भीतर के वीतराग सर्वज्ञ कृतकृत्य स्वरूप तक पहुंचने वाले भक्त जन प्रभु की उपासना कर रहे हैं इस साकार उपासना के रूप में।

(१३९) वीतरागता का प्रभाव – भला ये प्रभु उत्पन्न हुए हैं मनुष्य लोक में किसी राजा के घर और स्वर्गों के जैसे ठाट – बाट में रहने वाले इन्द्र, देवगण कितनी दूर हैं, वे देवता हैं, और वे भगवान उनकी जाति बिरादरी के भी नहीं हैं, कोई उनकी रिश्तेदारी नहीं, कोई शासक शास्य का सम्बंध नहीं, कोई गुरु शिष्य का सम्बंध नहीं, कोई किसी के काम आयगा, ऐसा भी सम्बंध नहीं, कोई किसी की विपत्ति को दूर कर रहा हो ऐसा भी कोई सम्बंध नहीं, लेकिन यह क्या हो रहा कि अनगिनते देव देवांगनायें ये सब खिंचे चले आ रहे हैं और प्रभु की सेवा करके वे अपने जीवन को धन्य समझते हैं। यह सब प्रताप है वीतरागता का, निर्मोहता का। जिसके नाम पर मूर्ति भी पूजती है। जिस मूर्ति को पूज रहे हैं अथवा समझो कि मूर्ति की जगह पर साक्षात् भगवान भी हों जिनको भक्त जन पूज रहे हैं, जिन पर चमर ढुल रहे हैं, जिनकी आरती उतर रही, तालियाँ बज रहीं, नाच गाने खूब हो रहे और कल्पना करो कि वह मूर्ति या भगवान कहीं बाहर उठकर देखने लगें कि देखें तो सही कि ये लोग किस तरह से मेरे पास आ रहे हैं तो बस समझो उनकी पूजा नदारत। ऐसा करने वाले व्यक्ति की पूजा नहीं होती। यहाँ तो यह सवाल है कि अनगिनते देव नरेन्द्र योगिराज आदि सब जिनकी पूजा में लगे हैं और वे प्रभु अपने अन्तस्तत्व के स्वरूप का ही स्पर्श कर रहे हैं । रंचमात्र भी क्षोभ नहीं है, रंचमात्र भी बाहर झुकाव नहीं है, परम वीतराग है, उनकी ही यह सेवा है, उपासना है।

(१४०) विपुल पुण्य प्रतापी शांतिजिनेन्द्र से शांति की अभ्यर्थना—तीर्थंकर प्रभु का तो इतना बड़ा पुण्य प्रताप होता है कि प्रभु होंगे जब हों तब बहुत दिनों में, लेकिन उनकी प्रतिष्ठा मान्यता जन्म से पहिले से ही होने लगती है। जन्म तो असली गर्भ में आने का नाम है। तो गर्भ में आने से ६ महीने पहिले अर्थात जन्म लेने से १५ महीने पहिले ही इन्द्र को यह ख्याल बन गया कि ये वीतराग सर्वज्ञ होंगे तो जिनप्रभु को इन्द्रादिक ने गृहस्थावस्था में मुकुट, कुण्डल, हार रत्नों से पूजा, जिनके चरणकमल देवगणों के द्वारा स्तवन किए गए, जो उत्कृष्ट वंश में उत्पन्न हुए हैं। (बड़े पुरूषों का जन्म नीच कुल में नहीं होता) जो जगत के प्रदीप हैं,

सबका सन्मार्ग दिखाने के लिए प्रकाश स्वरूप हैं, ऐसे हे शांतिजिनेन्द्र तीर्थंकर ! सर्व को शांति प्रदान करो।

श्लोक 14

संपूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्र सामान्य तपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शान्तिं भगवञ्जिनेन्द्रः।।१४।।

(१४१) भगवान् जिनेन्द्र से शांतिलाभ की अभ्यर्थना—भगवान जिनेन्द्रदेव सबको शांति प्रदान करें। भगवान का अर्थ है सम्पूर्ण ज्ञानवान। भग का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान से जो युक्त हो उसे कहते है भगवान । जिनेन्द्र का अर्थ है जो राग, द्वेष, काम आदिक विकारों को जीत ले, सदा के लिए नष्ट कर दे उसे कहते हैं जिन और जो जिनों में श्रेष्ठ हो उसे कहते है जिनेन्द्र । भगवान जिनेन्द्र से शांति की प्रार्थना की जा रही है कि राग द्वेषादिक विकारों को जीत चुकने वाले हे ज्ञानपुंज ! सबको शांति प्रदान करो। जिस-जिस जीव को ऐसा निर्विकार ज्ञानपुंज उपयोग में आएगा उसको शान्ति प्राप्त होगी। तब तक जो यह कह रहा है कि हे निर्विकार ज्ञानपुंज सबको शांति प्रदान करो उसका अर्थ यही है कि सब जीव निर्विकार ज्ञानपुंज को उपयोग में लेकर प्राप्त करें। हे प्रभु ! समस्त पूजको को शांति प्रदान करो जो आपका गुण स्मरण करने वाले हैं, आपके पूजक है आपकी उपासना में रहा करते हैं उनको शांति प्रदान करो। इस समय यह भक्त सर्व जीवों के लिए सुख की भावना कर रहा है।

(१४२) सबके शांति लाभ की चाह में अपने अलाभ के संदेह का अनवकाश—जब कल्प सत्य सहज शांति की रूचि उत्पन्न होती है तब वहाँ इतनी उदारता व्यक्त होती है और इस ही तरह का अनुराग होता है कि वह सर्व जीवों को सुखी शांत होने की भावना करता है। यह निर्दोष ह्रदय का परिणाम है अन्यथा एक पड़ोसी दूसरे पड़ोसी की उन्नति को नहीं देख सकता । इतना ईर्ष्या भाव प्रकृत्या पापोदय में जीवों के रहा करता कि पास वाले की उन्नति नहीं देख सकते। लेकिन यहाँ ज्ञानी का ह्रदय देखिये—सर्व जीवों के शाश्वत सुख शांति की प्रार्थना कर रहा है। इस लोक में तो कुछ ऐसा भी डर मानते हैं लोग कि यह ही धनिक हो जायगा तो मुझे क्या मिलेगा ? सब सम्पदा इस पड़ोसी के पास पहुंच जायगी, फिर मेरे को

क्या रहेगा ? यह भी भाव है। जिसके कारण पड़ोसी की उन्नति नहीं चाह सकता । दूसरा यह भाव है कि मुझ से बड़ा धनी, इज्जतवान अगर यह हो गया तो फिर मेरी क्या पूछ रहेगी? मैं तो हीन रह जाऊँगा । इन दो अभिप्रायों के कारण ईर्ष्या चला करती है। किन आनन्दधाम समस्त जीवों को शाश्वत शांति प्राप्त हो—इस भावना के करने में उन डरों की रंच भी गुंजाइश नहीं हैं। अरे ये सब हज़ारों लाखों जीव यदि आत्मा की शांति प्राप्त कर लेंगे तो मैं अशांत रह जाऊँगा, ऐसी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि सब जीव अपने-अपने आनन्द गुण के विकास से ही आनन्दित हुआ करते है, कोई बाहर से नई चीज नहीं लायी जाती। मैं भी आनन्दधाम अपने आपके आनन्द गुण के विकास से सुखी रहा करता हूँ। बाहर से कोई चीज लेकर मैं शांत नहीं रहा करता। तब यहाँ इसका भण्डार तो अनंत है। मेरा आनन्द मेरे में खूब प्रकट हो, असीम प्रकट हो और वह आनन्द कभी टूट जाय, ऐसा नहीं हो सकता । आत्मा के आनन्द का भण्डार अटूट है । मैं अनंतकाल तक उस आनन्द को भोगता रहूं, कभी निरानंद हो ही नहीं सकता। सब जीवों का अपना अपना आनंद अपने-अपने आनंद भंडार से प्राप्त किया करता है तो अब ईर्ष्या की क्या बात रही कि सब जीव अगर सुखी शांत हो गए तो फिर मैं क्या करुँ ? कहाँ से शांति लाऊँ ? सब स्वयं शांति के धाम हैं, अपने आप की विशुद्धता से शांति प्राप्त करते तब मात्सर्य की गुंजाइश नहीं, बल्कि अपने आप को विशेष शांत सुखी रखने के लिए कारण पड़ते हैं। जब दूसरे जीवों के शांतिधाम स्वरूप को निरख कर वहाँ हम यह भावना करते हैं कि ये अपने आपकी अतुल शान्ति को प्राप्त करें, तो शान्ति भाव पर ही तो हमारी दृष्टि गई। और उससे फिर हम अपने आप की शांति का अभ्युदय प्राप्त करते हैं।

(१४३) दूसरों केकल्याणसेअपनीहीनताकाअनवकाश—अबदूसरीबातदेखिये—जैसेलौकिकपुरूषों कोयहभयरहताहैकियेलौकिकजनअगरधनिक बन गए, इज्जतवान बन गए तब फिर मुझे कौन पूछेगा? मैं तो निर्धनता और बेइज्जती के कारण साधारण रह जाऊँगा यह भय ज्ञानी को यहाँ नहीं है कि लोग यदि खूब शांत सुखी हो गए, पवित्र हो गए, परमात्मा हो गए तो वे अपने उपादान से हो गए, अन्य से तो नहीं हुए। उनके हो जाने से यहाँ हीनता आ जाय सो बात नहीं। हम भी अपने उपादान से ही, अपने आपकी अंतर्भावना से ही शांत होते हैं, सुखी होते हैं, आनंदित होते है। तो भक्ति पूजन में, पाठ के विसर्जन में, शांतिपाठ के समय और यहाँ शान्तिभक्ति में सबकी शान्ति की भावना की जा रही है। हे प्रभो ! सम्पूजकों को शान्ति प्रदान करो। मुझे शांति प्रदान करो, ऐसा कहने के बजाय मुझ जैसे सबको साथ लेकर कहा जाता है तो उदारता और अपने व्यक्तित्व की छांट का अभाव, ये दो बातें विशेष महत्वशाली अनुभूत होती हैं। मैं भी पूजक हूँ तो मैं केवल अपने आप को कहूँ कि मुझे शान्ति प्रदान करो इसके बजाय जब यह कहा गया कि सब पूजकों को शान्ति प्रदान करो । तो इनमें मैं भी आ गया, साथ ही सबकी भी भावना है

। और उसमें यह भी प्रतीति स्पष्ट होती है कि सब जीव अपने आपके उपादान से ही शांत हुआ करते हैं, इस कारण यहाँ यह भय नहीं कि और लोग शांत हो जायेंगे तो मैं क्या करूँगा ? अथवा मुझे शांति न मिल सकेगी । सर्व जीव शांत हैं, सुखी है, आनंदधाम हैं, ज्ञानमय हैं, अपने आपकी दृष्टि करके सब शांति प्राप्त करें।

(१४४) शान्तिमयता के प्रसार की भावना—हे प्रभो ! जो प्रतिपालक हैं, हमारे रक्षक हैं, धर्मरक्षक हैं उन सबको शान्ति प्रदान करो। जब चारों और से वातावरण शांत रहता है तो उपासक को भी शांत होने के लिए बड़ा सहयोग मिलता है। स्वयं शान्ति पूर्वक रहने का यह परिणाम निकलता है कि अन्य जीवों को भी शांत होने की प्रेरणा मिलती है। कोई पुरूष शांत रहता हो और दूसरा उस पर क्रोध ही करता जाय तो यह बात कब तक चलेगी? वह भी स्वयं थककर शांत हो जायगा। घर में ही देख लो-पुरूष शांत है तो स्त्री क्रुद्ध नहीं रह सकती और स्त्री शांत है पुरूष क्रुद्ध है तो वह पुरूष उस स्त्री को कितना दु:खी करेगा ? आखिर उस पुरूष को भी शांत होना पड़ेगा। शान्ति तो स्वयं ऐसी शांति तब तक नहीं प्राप्त हो सकती जब तक कि निज को निज पर को पर जानकर क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायों को मंद न कर दें।

(१४५) चारों कषायों में राग द्वेष का विभाग—इन चारों कषायों में क्रोध और मान तो द्वेष की कषायें हैं, माया ओर लोभ ये राग की कषायें हैं। क्रोध में द्वेष भरा है इस पर तो लोग झट विश्वास कर लेते हैं, द्वेष हुआ तभी तो क्रोध जगा। चाहे अपने बच्चे पर ही क्रोध जगा हो उस बच्चे की कोई चेष्टा प्रतिकूल हो जाय जो उसकी माँ को न सुहाये तो उस चेष्टा से उस माँ को द्वेष हुआ तभी तो वह क्रोध करती है। द्वेष का रंग आये बिना क्रोध नहीं उत्पन्न होता। बड़े-बड़े आचार्य जन जब किसी शिष्य को दंड देते हैं और कभी कोई क्रोध भी करते हैं तो उनके क्रोध की यद्यपि प्रशंसा की गई है कि ऐसा बड़ा पुरूष अगर किसी पर क्रोध करे तो उसका भला हो जायगा। लेकिन क्रोध तो क्रोध ही है। उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। शिष्य की अनीति से क्रोध हो गया, द्वेष हो गया सहसा। द्वेष के जगे बिना कषाय उत्पन्न नहीं होती। मान कषाय भी द्वेष के बिना नहीं होती। मान में क्या किया जाता? किसी को छोटा समझना, तुच्छ समझना आदि किया जाता। इसमें भी किसी दूसरे आत्मा से द्वेष का भाव, घृणा का भाव उत्पन्न हुआ कि नहीं ? तो मान कषाय भी द्वेष की कषाय है। तो क्रोध से शांति नहीं आ सकती। और मायाचार, लोभ की भी यही बात है। मायाचार होता है किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति करने की गुनगुनाहट में। यह चीज मुझे मिल जाय। तो वह राग भाव से ही मायाचार हुआ और मायाचार के समय शांति कहाँ है ? वहाँ तो क्षोभ ही रहता है।

जब लोभ कषाय जग रही हो तब भी उसके क्षोभ ही रहता है। लोभ में ये विषय भी आ गए। जब इन विषय कषायों पर विजय प्राप्त हो तब जीव को शांति प्राप्त हो सकती है।

(१४६) प्रतिपालकों के शान्तिलाभ की अभ्यर्थना—हे प्रभो ! प्रतिपालकों को शांति प्रदान करो। यतीन्द्र और सामान्य मुनियों को शांति प्रदान करो। ऐसा सोचने वाले मुनि भी तो हो सकते हैं। जो मुनि अन्य मुनियों के प्रति कहें कि हमें शान्ति प्रदान करो तो वह समता का ही तो व्यवहार है। यदि कोई श्रावक भी ऐसा कहे कि यतीन्द्रों को, मुनियों को शांति प्रदान करो तो इस भावना में दोष नहीं है, गुण ही है। उन यतीन्द्र ओर मुनियों के प्रति आदर भाव ही जगा समझिये। बड़े के प्रति मंगल कामना करने में यह भी अन्तर्निहित है कि उस विधि से अपने आपका मंगल सोचा गया है। किस प्रभु से प्रार्थना की जाती है। निर्विकार ज्ञानपुंज से। हे निर्विकार ज्ञानपुंज ! सबको शांति प्रदान करो। यह निर्विकार ज्ञानस्वरूप जिस जिसके उपयोग में आयगा, शांति प्रदान करो तो उसकी अनुभूति की भावना इन शब्दों में समझिये। समस्त जीव ज्ञानपुंज की अनुभूति किया करें जिससे शांत रहें।

(१४७) देश, राज्य व नगरों के शान्तिलाभ की अभ्यर्थना—हे जिनेन्द्र ! अर्थात् निर्विकार ज्ञानपुंज ! देश को शांति प्रदान करो। देश को शांति प्रदान करो इसका भाव यह है कि देशवासियों को, समस्त प्रजा को शांति प्रदान करो, राज्य को शान्ति प्रदान करो और नगरवासियों को शांति प्रदान करों। सर्वत्र शान्ति का ही वातावरण रहे। यह ही चाहिये है। शांत पुरूष यह भावना रखता है कि सब जगह शांति रहे, किसी भी जगह की अशांति को वह नहीं चाहता। इसमें शांति की उपासना की गई है। शान्ति भाव ही सर्वोत्कृष्ट अभ्यर्थनीय भाव है अर्थात चाहने वाले लोगों को सबसे अधिक प्रिय है शान्ति। परपदार्थो की ओर लगाव रहता है वह साक्षात् अशांति है। जब भवितव्य अच्छा होने को है विवेक जगता है, वस्तु का स्वतंत्र स्वरूप दृष्टि में आता है तब इस जीव में ऐसा उत्साह जगता है कि मेरी पर की और दृष्टि मत हो। इसका भाव यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, मैं भी स्वतंत्र हूँ, सो सर्वत्र स्वतंत्रता ही वर्तो। सर्वत्र स्वतंत्रता बर्तो इसका प्रकट रूप यह है कि किसी भी द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों का किया जाना मत देखो । परतंत्रता ओर स्वतंत्रता का मर्म यहाँ जाना जाता है। एक द्रव्य दूसरें द्रव्य का कुछ कर देता है इस भावना में परतंत्रता का आह्वान है और कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कुछ कर नहीं सकता। सब अपने आपमें अपना परिणमन मात्र करते हैं। इसमें है स्वतंत्रता का स्वागत। स्वातंत्र्य ही लोक में वर्तो अर्थात सब अपने अपने

स्वरूप में रहें, किसी भी बाह्य दृष्टि में न आऊं, किसी भी पर से स्नेह न लगाऊँ, उससे सुख की आशा न करुँ, बस यही शांति प्राप्त करने का मूल उपाय है।

(१४८) गुण विनाशक कषाय ज्वालायें—इन कषायों को आचार्यों ने ज्वाला की उपमा दी है। जैसे अग्नि की ज्वाला में जो ईंधन आयगा वह जल जायगा इसी प्रकार इन कषायों की ज्वाला में आत्मा के वे सारे गुण जल-भुन रहे हैं। ज्ञान का, शान्ति का, आनंद का निरंतर अनुभव करते रहना, यह इस जीव में सहज स्वभाव पड़ा हुआ है, किंतु कर्म विपाक ऐसा है कि अपने आपके गुणों का, अपने आपकी शक्ति का ये जीव अनुभव नहीं कर सकते। समस्त आपत्तियों की जड़ है एक अज्ञान भाव। विडम्बना तो इतनी बड़ी लगी है हम आपको कि नाना तरह के देहों में फँसते रहें और दु:खी होते रहें। लोग इस देह को ही देखकर खुश होते हैं-मैं कितना अच्छा हूँ, कितना स्वस्थ हूँ, लेकिन इस शरीर का बंधन तो इस जीव पर विपदा है। तब दो द्रव्य हैं जीव और शरीर । और कल्पना करो कि शरीर मेरा रहता ही नहीं, मैं केवल जीव ही जीव रहूं तब तो सारा लाभ ही लाभ है। सब प्रकार के झगड़ों से मैं निवृत्तत्तरहता ,किंतु ऐसी इच्छा ज्ञान बिना नहीं हो सकती।

(१४९) मरण समय में समाधिभाव होने से ही कल्याणलाभ—किसी को मरण के समय भी यह भावना जग जाय कि छूट रहा है शरीर तो छूटने दो, मैं तो इससे निराला हूँ ही । यह मैं अपने आपमें हूँ, मैं कहाँ छूट रहा हूँ ? जैसे कोई पुराने मकान को बदल कर नये मकान में आये तो पुरूष कहाँ मरा ? मकान ही बदल गया, यों ही एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में मैं पहुंच गया, और उसमें भी न पहुंचता तो और भी अधिक अच्छा था, लेकिन दूसरे शरीर का भी ध्यान नहीं रखता समाधिमरण करने वाला कि पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में जा रहा हूँ तो मुझे क्या दु:ख है ? यह समाधि का नमूना नहीं है। यह तो समाधिभाव करने में थक गया वह तो उसका मन प्रसन्न करने की यह पद्धति है कि देख—तेरा पुराना शरीर छूटेगा और दूसरा नया शरीर मिलेगा यह तो तेरे लिए अच्छी बात है। यह मृत्यु तो तेरा उपकारी है जो इस जेलखाने से तुझे छुटा रहा है, यह सब समझाने की बात है। समाधिभाव का लक्ष्य यह है कि सब कुछ मेरा मेरे पास है, कुछ विकल्प न करें, सर्व साम्य भाव रखें, समाधिभाव तो उसका नाम है। तो मरण समय भी यदि थोड़ा इस और उपयोग जाय अपने आत्मा के एकत्व की ओर तो शांति हो जायगी।

(१५०) मरणसमय में निर्मोह होने का परम विवेक—प्राय: करके तो मरण बिगड़ने के बड़े साधन बने हुए

हैं। पुरूष मरण कर रहा है तो स्त्री आकर रोवेगी, पुत्र आकर रोवेंगे ओर उन पुत्रों की भी क्या खता, यह मरने वाला भी चाह रहा है कि मरते समय कोई दिख तो जाय। उस लड़की को बुला दो, दामाद को खबर दे दो, उन्हें देख लें, उनको देखकर मेरी छाती तो शांत हो जायगी। अरे मिनट दो मिनट का खेल है, मरण हो रहा है, उस ही काल में यदि निर्मोहता का भाव लावे तो उसके आत्मा का आगे के लिए कल्याण होगा। दो-चार मिनट भी अगर नहीं छोड़ सकते, वही पुरिया बुनते रहे जो जिन्दगी भर बुनी तो यह कोई बुद्धिमानी है क्या ? उस समाधिभाव को प्राप्त करने के लिए जीवन भर समाधि का अभ्यास करना है। सबसे निराला ज्ञानमात्र यह मैं पूरा का पूरा हूँ। इससे बाहर मेरा कुछ नहीं। बाहर की कोई चीज इसमें आती नहीं । यह मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ ओर यह है निर्विकार। तो ज्ञानपुंज की भावना करने से ही शांति मिली ना। तो प्रकट जो भगवान हैं वे भी निर्विकार ज्ञानपुंज हैं इस कारण उनकी सेवा पूजा करके हम शांति प्राप्त करने की अभ्यर्थना किया करते हैं।

(१५१) हितार्थ आत्मस्वरूप के परिचय की अनिवार्यता—हम आप सबकी एक ही इच्छा है—क्या, कि दु:ख न हो और सुख हो। लेकिन क्या कभी यह भी सोचा है कि जो चाह रहा है कि दु:ख न हो ओर सुख हो यह है क्या जो चाह रहा है उसका स्वरूप जाने बिना न सुख प्राप्त हो सकेगा ओर न दु:ख से छुटकारा ही मिल सकेगा। सर्वप्रथम बात यह है कि हमें अपने कल्याण के लिए जरूर सोचना चाहिए। हम आप आज मनुष्य भव में पैदा हुए है तो यह अवश्य सोचना चाहिए कि हमारा हित कैसे हो? अनेक प्रकार के कीट-पतिंगा पशु-पक्षी आदिक को देखो जो इस संसार में रूलते फिरते है वे अपने हित का कहाँ निर्णय कर सकते हैं? हम आप यह निर्णय करें कि मैं क्या हूँ। मैं जानने देखने वाला चैतन्यमात्र एक आत्मतत्त्व हूँ। (यह अपने आपके स्वरूप के बारे में बात कही जा रही है) तो अपने आप का निर्णय सर्वप्रथम हो कि मैं सर्व से निराला जानन देखनहार एक आत्मतत्व हूँ। मेरे में आनन्द का सद्भाव है, मैं अपने आप आनंद पाता रहता हूँ। मैं परिजनों की वजह से या अन्य किसी भी वजह से सुखी होता रहता हूँ ऐसा सोचना भ्रम है। मेरे में आनंद स्वरूप है, मेरे में ज्ञानस्वरूप है इस कारण मैं आनंदमय रहता हूँ। जब हमने आँखें खोली और जाना कि यह चीज है, तो ऐसा जानना, यह तो एक हमारी खराबी है। हममें रागादिक विकार पड़े हुए हैं, इस कारण हम इन इन्द्रियों द्वारा ही देख जान पाते है। जैसे इन आँखों से देखकर जाना कि यह भींत है तो यह तो हम में विकार होने के कारण इन्द्रियज ज्ञान हुआ। यदि हममें ये रागादिक विकार न होते तो इन इन्द्रियों द्वारा देखकर न जानना पड़ता। सर्व ओर का ज्ञान स्वत: ही पूर्ण रूपेण झलक

जाता।

(१५२) स्वयं की ज्ञानानन्दस्वरूपता—वेदान्त की जागदीशी की कथा में एक दृष्टांत दिया है कि एक पुरूष एक बार किसी गुरु के पास गया और उससे बोला—महाराज मुझे कुछ ज्ञान दीजिए। मैं तो कुछ नहीं हूँ। सो वह गुरु बोला—हे भक्त ! देखो अमुक नदी में अमुक जगह एक मगर रहता है उसके पास जावो। वह तुम्हें ज्ञान देगा.....अच्छा महाराज। जब वह भक्त पहुंचा तो मगर से कहा—हे मगरराज ! आप मुझे ज्ञान दीजिए। तो मगर बोला—अच्छा भाई ठहरो ! मुझे बड़ी प्यास लग रही है आपके हाथ में लोटा डोर है। आप उस कुवें से एक लोटा जल भर लावो, हम पहिले अपनी प्यास मिटा लें तब तुम्हें ज्ञान दें। तो वह भक्त बोला—हे मगरराज ! हम तो तुम्हें ज्ञानी समझ रहे थे, पर तुम तो निरे मूर्ख दिखते हो। अरे तुम जल से डूबे हुए हो, फिर भी कहते हो कि मुझे एक लोटा जल कुवें से लाकर पिला दो तो मगर बोला—हे भक्त ! तू भी तो निरा मूर्ख है। अरे तू तो स्वयं ज्ञानमय है, फिर भी कहता है कि मुझे ज्ञान दे दो। तो इसी प्रकार से यह जीव है तो स्वयं ज्ञानमय, पर उसका पता न होने से इन इन्द्रियों द्वारा जान रहा है। और इस ज्ञानस्वभाव से कुछ भी लाभ नहीं ले पा रहा है।

(१५३) आकिंचन आत्मतत्व की संसार में दशा-देखिये न साथ में कुछ लाये थे, न साथ में कुछ ले जायेंगे, केवल जो धर्म किया अथवा जो पाप किया उसके संस्कार साथ ले जायेंगे। तो अपने आपके इस परमात्म स्वरूप की सुध खोकर इस जीव को लाभ क्या मिल जायगा, सो तो बताओ? एक कथानक है कि एक बार एक चोर किसी राजा का अश्व (घोड़ा) अश्वशाला से चुरा लाया और उसे बेचने के लिए एक बाजार में लाकर खड़ा कर दिया। ग्राहक आये, पूछा-इसका दाम क्या है? तो था तो करीब ३००) का, पर लोग यह न जान सकें कि यह घोड़ा चोरी का है इसलिए उसे बताया ९००) । अब ९००) का कौन खरीदे? कई ग्राहक आये और लौट गए। एक बार किसी पुराने चोर ने जो कि चोरी करने में कुशल था, आकर पूछा-इस घोड़े की कीमत क्या है? तो वह बोला ९००)। उसकी इस आवाज से ही वह पुराना कुशल चोर समझ गया कि इसका यह घोड़ा चोरी का है। ग्राहक ने पूछा-इसमें ऐसी कौन सी कला है जो इतनी कीमत है ? सो बताया कि इसकी चाल अच्छी है। वह पुराना चोर हाथ में एक मिट्टी का हुक्का लिए था वह तो पकड़ा दिया घोड़ा वाले को और स्वयं घोड़े पर बैठकर चाल देखने लगा। और चाल ही देखना क्या, वह उस घोड़े को उड़ा ले गया। अब बाद में वे पहिले वाले ग्राहक लोग आकर पूछते हैं कि भाई तुम्हारा घोड़ा बिक गया क्या ? तो वह बोला-हाँ बिक गया। कितने में बिका? जितने में लाये थे उतने में

बिक गया। और मुनाफे में क्या मिला ? मुनाफे में मिला यह चार आने का मिट्टी का हुक्का। तो ऐसे ही समझो कि हम आप यहाँ पर जो कुछ भी रागद्वेष मोहादिक के पाप संस्कार कर रहे हैं उनके फल में मिलेगा क्या ? बस यही पाप का हुक्का।

(१५४) शाश्वत आत्मतत्व की सुध—उद्धार के प्रसंग में यह तो सबको मानना ही पड़ेगा कि मैं आत्मा हूँ, अनादि से हूँ और अनंत काल तक रहूंगा। एक ऐसा निर्णय बना लीजिए कि जो भी सत् है वह अनादि से है और अनंत काल तक रहेगा। ऐसा कोई भी सत् नहीं है जिसका कभी नाश होता हो। हाँ चाहे उस एक-एक अणु की शक्ल बदल जाय, पर उसका मूलत: नाश कभी नहीं होता । तो आप सोचिये—अपने आपके स्वसम्वेदन से जो ज्ञान बन रहा है कि मैं खाता हूँ, जाता हूँ, मुझे शांति चाहिए, मुझे विश्राम चाहिये आदि जिसकी आवाज निकलती है, जिसे मैं 'मैं' कहकर पुकरता हूँ वह कोई पदार्थ है कि नहीं ? अरे नहीं है तो यह तो सबसे अच्छी बात है। जब मैं हूँ ही नहीं तो मेरे लिये सुख दु:ख क्या? मैं हूँ तो कभी समूल मेरा नाश नहीं हो सकता। मैं मरूंगा, इस देह को छोडूंगा, पर मेरा सत् सदा रहेगा। मैं अन्य भवों में भी जाऊँगा, मुझे अनेक देह भी धारण करने होंगे, फिर भी मैं सत् सदा रहूंगा। लोग तो अपने इस १०-२०-५० अथवा १०० वर्ष के जीवन के लिए ही अनेक प्रकार के आराम की बातें सोचते हैं, पर उन्हें यह पता नहीं कि इस थोड़े से जीवन को मौज में रखने से क्या फायदा? अभी तो इस जीवन के बाद न जाने कितना अनंतकाल पड़ा हुआ है। अरे इस १०-२०-५० वर्ष के जीवन को ही सब कुछ न समझ लीजिए, इसके बाद अनंतकाल के लिए मेरा क्या हाल होगा, इस पर ध्यान दीजिये।

(१५५) आत्मध्यान, प्रभुभक्ति ओर सत्संग की उपयोगिता—शान्तिपथ में बढ़ने के लिये आत्मध्यान, प्रभुभक्ति और सत्संग इन तीन बातों पर विशेष ध्यान रखना होगा। प्रभु जो वीतराग कृतकृत्य व सर्वज्ञ हैं, ऐसा जो परमात्म तत्त्व है उसकी भक्ति करना और अपने स्वरूप का ज्ञान करना कि यह शरीर, ये राग द्वेषादिक कर्म मैं नहीं हूँ, फिर मैं किस प्रकार का हुआ करता हूँ, उस प्रकार की स्थिति का अंदाज करें, अपने आपके सहज स्वरूप का ध्यान करें, अपनी बात सुहाये। जो शरीर, भोग और विषयों से विरक्त हैं ऐसे कोई गुरूजन मिलें तो उनका सत्संग करें। जब ये तीन बातें चलती रहें तो हम आप अवश्य ही मुक्ति के निकट पहुंच जायेंगे। और अगर विषय कषायों में ही रत रहे, परिग्रहों में ही रत रहें, तो उससे गुजारा न चलेगा। अपना प्रोग्राम केवल मुक्ति प्राप्त करने का बनायें। मुझे तो सम्यक्त्व प्राप्त करना है, मुझे तो सबसे हटकर केवल एक ज्ञानस्वरूप का ध्यान करना है, जिससे मुझे शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त हो। साथ यही देता है। साथ ही यह भाव भी मन में लायें कि जब तक मेरा जीवन है तब तक मैं इन विषय कषायों में

पड़कर कहीं बरबाद न हो जाऊँ, इसके लिए परोपकार, दान, पुण्य आदि के कार्य करें, दीन दु:खियों की मदद करें। यदि हम गुरूजनों की सेवा, दीन दु:खियों की सेवा, धार्मिक कार्यो में सहयोग देने आदि के काम करेंगे तो हमारा दिल अच्छा रहेगा ओर पंचेन्द्रिय के विषय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र) आदिक के कार्यो में पड़कर तो पछतावा ही हाथ लगेगा। तो उन व्यावहारिक धार्मिक कार्यों को करते हुए भी अपने आपके स्वरूप का ध्यान रहे, तो समझो कि हमारा यह नरभव पाना सफल है, अन्यथा पशु पक्षियों की ही भांति अपना यह जीवन समझिये। मनुष्यों में और इन पशु-पक्षियों में अंतर ही क्या है? अंतर यही है कि वे पशु-पक्षी अपने हित अहित का कुछ विवेक नहीं कर सकते हैं और ये हम आप मनुष्य अपने हित अहित का भली प्रकार विवेक कर सकते हैं और सर्व प्रकार के संकटों से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त कर सकते है।

श्लोक 15

क्षेमं सर्व प्रज्ञानां प्रभवतुबलवान्धार्मिको भूमिपाल:।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षंचौरिमारि: क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायी।।१५।।

(१५६) सर्वजीवों के क्षेम मंगल की भावना में शांति का योग—सबकी जो शांति चाहता है वही स्वयं की शांति का पात्र हो सकता है जो दूसरा में कोई अशांति, दु:ख, कष्ट, बाधा, की बात सोचता है वह तुरन्त ही नियम से अशांत रहता है। दूसरे के अकल्याण की बात, दूसरे के विनाश, विरोध, उपद्रव की बात उस ही दिल में आ सकती है जो दिल क्षुब्ध हो। शांत दिल किसी की अशांति चाह सके ऐसा नहीं हो सकता। शांति का इच्छुक यह पूजक भावना कर रहा है कि सर्व प्रजा में क्षेम कुशल हो। जैसे परिवार के लोग अपने परिवार जनों को अपना समझकर सबके सुख की भावना भाते हैं, सब सुख से रहें, तो जीवत्व के नाते से जीव स्वभाव की दृष्टि रखकर समस्त जीवों को अपने स्वभाव के नाते जो अपना मान लिया वे सब जीव भी मेरे ही जैसे हैं, ऐसा मानकर उसके क्षेम कुशल की भावना करते हैं तो सब जीवों के प्रेम क्षेम कुशल की भावना करते है।

(१५७) भावों की सम्हाल का महान् पुरूषार्थ--जीव को सिवाय भावों के और कुछ हाथ नहीं आता। अपने परिणाम बना लें। अन्य योग तो, समागम तो पुण्य पाप के आधीन हैं। जैसा मिला न मिला यह तो उदयानुसार है पर शांति, प्रकाश तृप्ति ये सब शुद्ध भाव के आधीन है। पुण्यात्मा होना और बात है और पुण्योदय वाला होना और बात है। जिसके पुण्य का उदय है उसके इष्ट समागम धन-वैभव अटूट आते हैं। कोई कसाई भी है, जो धनिक है, राजमान्य है उसका भी पुण्य का उदय कहा जा सकता है, पर पुण्यात्मा वही कहला सकेगा जिसके भाव पवित्र है। पुण्यात्मा मायने पवित्र आत्मा , चाहे उसके पाप का उदय चल रहा हो तो भी वह पुण्यात्मा कहला सकता है । पाप का उदय है, उपसर्ग आता है, निर्धनता है, कोई सता रहा है, बड़े बड़े साधुवों पर भी उपसर्ग आया । जब ऋषभदेव को छह महीने के उपवास के बाद भी ६ महीना आहार न मिला, आहार करने जायें, पर विधि न मिली तो उस समय क्या कुछ पाप का उदय नहीं कहा जा सकता है? असाता वेदनीय व अंतराय का तो उदय था ही, लेकिन आत्मा तो पुण्यात्मा था, पवित्र आत्मा था। और जैसे आजकल के कसाई लोग, अन्यायी लोग या जिन्हें लुच्चा-लफंगा की प्रकृति वाला कहते हैं, ऐसे लोग नेता बनकर या कुछ चतुराई की बातें दिखाकर लाखों करोड़ों रुपये इकट्ठे कर लेते हैं तो उन्हें कुछ लोगों की अपेक्षा तो कहा जायगा कि इनके पुण्य का उदय है लेकिन उनका आत्मा कैसा है ? पापात्मा है। अब यहाँ देखिये कि तृप्ति का, शांति का सम्बंध पुण्योदय के साथ हैं या पुण्यात्मा होने के साथ । पुण्यात्मा होने के साथ है न कि पुण्योदय के साथ। तो जो जीव मात्र को अपने स्वरूप के समान तक कर विरोध को तो एकदम नष्ट कर देता है। विरोध तो है नहीं किसी के प्रति और उन सबके प्रति आनंद और शांति की भावना करता है। वह स्वयं शांतिलाभ पाता है। यहाँ उपासक भावना कर रहा है कि सर्व प्रजा में क्षेम कुशल हो।

(१५८) अविरोध के भाव का महान् तपश्चरण—यह भी बड़ा तपश्चरण है किसी भी जीव के प्रति विरोध और द्वेष का भाव न हो। कोई मनुष्य मेरे प्रति विरोध भी रखता हो तो सोचना चाहिये कि प्रथम तो उसने मुझे जाना नहीं। मैं तो अमूर्त ज्ञानानंदस्वरूप मात्र हूँ, इस स्वरूप को उसने जाना नहीं। केवल इस शरीर सकल को ही समझ रहा है कि यह है यहाँ, और उसको लक्ष्य में लेकर ही यह विरोध भाव रख रहा है, पहिली बात तो यह है । दूसरी बात यह है कि वह मेरा विरोध बिल्कुल भी नहीं रख रहा। जैसे हम सुख शांति चाहते हैं इसी प्रकार वह भी सुख शांति चाहता है। और उसको इस समय यह कल्पना में आया हुआ है कि मैं ऐसा करुँ तो सुख शांति मिलेगी। उसका मूलत: प्रयत्न मेरे को मिटाने का नहीं है, किन्तु स्वयं को सुखी शांत बनाने का है। सो यह जगत की नीति ही है कि प्रत्येक जीव सुख शांति चाहता है। एक पड़ोसी दूसरे पड़ोसी से विरोध करके विरोध नहीं चाहता, सुख शांति चाहता है। कल्पना में चूंकि ऐसा

ही आया कि इसका विनाश कर दें, अथवा घर मिटा दें, आजीविका मिटा दें तब हमें सुख मिलेगा। तीसरी बात यह सोचो कि यह सब काम ऊपर-ऊपर से हो रहा है, वह भी परमार्थ तत्त्व नहीं है जो विरोध कर रहा है, जिससे विरोध किया जा रहा है वह भी परमार्थ तत्त्व नहीं है। तो माया की छाया से हो रही पहिचान ठान । जो वास्तव में मैं हूँ उस मेरे को पहिचानने वाला कोई है नहीं। मेरा पहिचाननहार दूसरा न कोई है। मैं ही मैं अपने को समझ लूं, यह बात तो बन जायगी, पर ये दूसरे मेरे को पहिचानें, समझें, जानें, सो न बनेगा। और कभी वह दूसरा भी ज्ञानी बन गया और मेरे स्वरूप को पहिचानने लगा वह तो ज्ञाता दृष्टा हो गया। उसकी निगाह में अब व्यक्तित्व का नाता न रहा। तो इस तरह भी उसने मुझे नहीं पहिचाना । तो जितना व्यवहार बन रहा है यह सारा व्यवहार माया का माया से बन रहा है। परमार्थ तत्त्व तो शाश्वत एक ध्रुव है। मुझमें जो परमार्थ ज्ञानस्वभाव है वही मैं हूँ, ऐसा अपने आप में निर्णय करके जगत के सब जीवों के प्रति मित्रता का भाव लाइये। वह है ऐसी विशुद्धि कि जिस विशुद्धि से आत्मा को शांति प्राप्त होती है।

सब सुखी हों, सब शांत हों। जब किसी पर कोई बड़ा दु:ख आ पड़ता है और चाहे वह सज्जन प्रकृति का भी नहीं है तो भी उसके मुख से निकल ही आता है कि ऐसा दु:ख किसी को न हो। तो मालूम होता है कि सभी जीवों के प्रति सुखी शांत होने की भावना में वह प्रभाव है कि स्वयं भी शांत हो जाय। जैसे—कहते हैं ना, जुड़-मिलकर मेल पूर्वक खावो, पियो । इसी तरह जुड़-मिलकर शांति का भाव करो। दूसरों के प्रति शांति का भाव किये बिना खुद के आत्मा में शांति के अंकुर नहीं उत्पन्न हो सकते। यहाँ पूजक शांति जिनेन्द्र के सामने शान्तिनाथ प्रभु को उपयोग में समक्ष रखकर अभ्यर्थना कर रहा है कि सब जीव सुखी शांत होवो।

(१५९) शान्तिपूजक की पर के प्रति द्वितीय भावना—राजा धार्मिक और बलवान बने, यह दूसरी भावना की जा रही है। जो प्रजा का रक्षक हो, प्रजा का हितैषी हो वह है प्रजा का मालिक । उसी को कहते हैं राजा। जो प्रजा पर अन्याय करता हो, प्रजा को दु:खी रखता हो उसे मालिक नहीं कह सकते। एक बार किसी शिकारी ने एक हंस पक्षी को तीर मारा। वह पक्षी गिर गया। और किसी सज्जन ने उस पक्षी को उठा लिया और उसका खून साफ किया, उसके शरीर पर हाथ फेरा और बड़े प्रेम से उसे हृदय से लगा लिया। यों उससे जो बना सो उस पक्षी की सेवा की। अब उस शिकारी ने आकर राजा से शिकायत की कि महाराज! इसने मेरा पक्षी ले लिया है, वह दिला दीजिए। तो वह सज्जन कहता है कि महाराज यह पक्षी इसका नहीं है, यह तो मेरा है। शिकारी अपनी कहानी सुनाने लगा-देखो मैंने तो इसे मारा, गिराया, यह तो मेरा है ,तो वह सज्जन कहता है—देखो मैंने इसे उठाया, इसका खून साफ किया, इसके शरीर

पर हाथ फेरा, इसकी खूब सेवा की, यह तो मेरा है। अब दो समस्यायें आमने आयीं। एक था रक्षक, एक था भक्षक । तो विवेकियों का यह निर्णय हुआ कि जो रक्षण करे वह मालिक और जो भक्षण करे वह मालिक नहीं। तो राजा भी वहीं कहलाता है जो प्रजा की रक्षा करता है। उस राजा के प्रति यह भावना भायी जा रही है कि यह धार्मिक ओर बलवान होओ।

(१६०) राजा के धार्मिक और बलवान होने पर ही शांति व्यवस्था—राजा केवल बलवान हो याने धार्मिक न हो तो उससे काम न चलेगा। राजा बलवान हो गया, जितने चाहे राज्यों को हड़प करे, जिस चाहे पुरूष को बाधा दे, उससे काम न चलेगा ठीक । क्योंकि धार्मिक हुए बिना उपकारी न बन सकेगा। पूजा पाठ भी करता रहे, सब कुछ करता रहे, मगर बलवान न हो तो उससे भी प्रजा का काम नहीं चलता। उसका भी काम नहीं चलने का। वह भी कर्तव्य से गिर रहा। इतना बड़ा धर्मात्मा बनना है तो योगी बन जाय। प्रजा की रक्षा का भार क्यों लाद रखा है? तो दूसरी भावना में यह भावना की जा रही है कि राजा धार्मिक और बलवान बने। जो धार्मिक हो और साथ ही बलवान भी हो वह राजा प्रजा की रक्षा करने में समर्थ है और तब ही वह स्वयं निर्वाधरूप से रह सकेगा। और इसी प्रकार से शांति बर्त सकेगी। पूजक सब जीवों के प्रति शान्ति की भावना कर रहा है।

(१६१)शान्तिपूजक की पर के प्रति तृतीय भावना—तीसरी भावना में कह रहा पूजक कि समय-समय पर मेघ बरसो। समय पर मेघ न बरसना अशांति और त्राहि-त्राहि से सम्बंध बनाता है। जब जल चाहिए तब बरसे, जब न चाहिए तब न बरसे यह तो वहाँ के निवासियों के पुण्य पर निर्भर है। मेघों का ठीक समय पर बरसना देशवासियों के पुण्य पर निर्भर है। तभी तो एक कवि ने कहा कि हे मेघराज, तुम धनी तो बहुत हो , पानी बरसता है तो मानो सुख शांति बरसती है, पर तुम ऊसर बंजर में भी उतना ही बरसाते, समुद्र में भी उतना ही बरसाते और अच्छी भूमि में भी उतना ही बरसाते, तो तुम्हें कुछ विवेक ही नहीं है। तो भावना की जा रही है कि समय-समय पर वृष्टि होवो। एक ऐसी दिल बहलावा की कहानी में कहा जाता है कि एक बार राखी का होली ने निमंत्रण किया। राखी होली के घर गई तो राखी ने देखा कि वहाँ तो बड़ी सजावट थी, सभी लोग बड़े खुश दीखते थे, छोटे बड़े सभी हँस खेल रहे थे, घर-घर अनेक प्रकार के मिष्ठान बन रहे थे। बड़ी खुशियाँ मनाई जा रही थीं। राखी तो निमंत्रण पूरा करके घर लौट आयी। अब राखी ने होली का निमंत्रण किया। (तो राखी तो बरसात के दिनों में होती है ना?) होली जब राखी के यहाँ आयी तो देखा कि वहाँ तो सभी घर गंदे हैं, कूड़ा कचरा सब जगह है। कपड़े भी गंदे पड़े हैं, लोगों में कोई खुशियाँ नहीं दिख रही है, तो होली नाक-भौंह सिकोड़कर वहाँ से अपने घर चली आयी। अब दूसरे वर्ष राखी ने क्या किया कि पानी न बरसाया, अकाल पड़ क्या। तो लोगों में बड़ी त्राहि त्राहि मच गयी।

जब अकाल पड़ गया। तो लोगों में खुशियाँ गायब हो गयी। ऐसे मौक़े पर जब होली ने राखी को बुलाया तो राखी को वहाँ पहिले वाला दृश्य गायब दीखा। राखी ने होली से पूछा कि होली बार जब मैं आयी थी तब तो लोगों में बड़ा उल्लास था। घर-घर खूब मिठाइयाँ बनाई जा रही थी, बड़ी खशियाँ मनाई जा रही थी। अब क्या हो गया ? तो होली ने कहा कि हमने तुम्हारे यहाँ आकर तुमसे घृणा की थी यह उसका फल है। तो मतलब यह है कि जब समय-समय पर वर्षा होती रहती है तब ही तो लोग बड़े सुख चैन में रहते हैं। काम करने वाले लोग काम करते समय मामूली कपड़े पहिनकर परिश्रम करते रहते हैं और काम से निपटने पर नहा धोकर साफ कपड़े पहिनकर बन ठनकर निकलते हैं। तो वे लोग ऐसा श्रम, काम न करें तो वह ठाठ कहाँ से नसीब आये? तो वैभव की बड़ी शोभायें बनाना ये सब बातें इस पर निर्भर हैं कि समय-समय पर वर्षा होवे। पूजक का यह भाव है कि समस्त प्रजा सुख शांति से रहे, क्षेम हो, कल्याण हो । तो तीसरी भावना में वह कहता है कि समय-समय पर भली प्रकार से मेघ बरसो।

(१६२)शान्तिपूजक की पर के प्रति चतुर्थ भावना—चौथी भावना में कहते हैं कि समस्त व्याधियाँ नाश को प्राप्त हों। राजा भी बलवान हो, समय पर वर्षा भी होती रहे। और मान लो सावन भादों में हैजा या प्लेग पड़ गया, लोग दु:खी हो रहे, कोई ऐसी व्याधियाँ आ गयी तो लोग कितना परेशान हो जाते हैं। तो चौथी भावना में कह रहे हैं कि लोगों की व्याधियाँ नाश को प्राप्त हों। व्याधियाँ होने का अंतरंग कारण तो पाप का उदय है, और बाहरी आश्रय है असंयम, अटपट खानपान। अगर नियमित भोजनपान रहे और बराबर शारीरिक श्रम रहे तो बिहरंग कारण तो हट गया। अब कोई पाप का तीव्र उदय हो और च्याधियाँ आ जायें तो उस पर क्या ? तो संयम से रहना, व्रत पालन करते हुए रहना यह अपने लाभ के लिए बहुत आवश्यक बात है।

(१६३)शान्तिपूजक की पर के प्रति पाँचवी भावना—५ वीं भावना में पूजक कह रहा है कि कहीं दुर्भिक्ष मत फैले। दुर्भिक्ष कहो अथवा अकाल कहो जिससे सब जीवों को बाधा हो, महंगाई बढ़े ऐसा दुर्भिक्ष का समय मत होवो। यह य शांतिजिनेन्द्र के स्तवन में प्रार्थना की जा रही है। जिन प्रभु के उपस्थित होने पर १००-१०० योजन चारों तरफ सुभिक्ष रहती है ऐसे सुभिक्ष के निमित्तभूत शान्ति जिनेन्द्र से पूजक कह रहा है कि कहीं भी दुर्भिक्ष न हो, सभी लोग सुखी होवें। सब सुखी होवें ऐसी भावना करने वाले ने अपने स्वरूप का स्पर्श किया तब अंदर से यह आवाज निकली । जैसे कितना ही क्रूर दुष्ट मनुष्य हो, जब उसके ऊपर तेज दु:ख आता है तब वह कहता है कि किसी को ऐसा दु:ख मत हो, तो जब उसने दूसरों के दु:ख की भी झलक उस अपने दु:ख में ले लिया तब ही उसके अंदर से ऐसी आवाज निकली। ऐसा कहने पर भी दो बातों का आशय हो सकता है । एक अपने स्वरूप के समान दूसरों का स्वरूप समझकर कहे और एक

यह बताने के लिए कहे दूसरों से कि इससे ज्यादा दु:ख और कुछ हो नहीं सकता। जैसे घर की कोई लड़ने वाली महिला को जब किसी के द्वारा बड़ा कष्ट मिलता है तो वह कह बैठती है ना कि ऐसा कष्ट किसी पर न गुजरे। तो दयावश नहीं कह रही है, किंतु दुनिया को यह बताने के लिए कि इससे बढ़कर दु:ख और नहीं हो सकता जो दु:ख मुझे है। तो जब अन्त:ध्वनि से यह बात बनती है तो समझो कि उसने अपने स्वरूप के समान दूसरों को भी लक्ष्य में रखा है।

(१६४)शांतिपूजक की पर के प्रति छठी भावना—छठी भावना में कहते है कि कहीं चोरी का उपद्रव मत हो। जब कभी डाका चोरी लूटमार आदि चलने लगते हैं तब भी अशांति का वातावरण हो जाता है। भैया ! इस अनीति से न तो चोरी डकैती करने वाले लोग भी छुपकर रहेंगे, भय मानेंगे, वे भी शांति सुखी न रह सकेंगे। और जो समाज के लोग हैं वे भी उस वातावरण से शांत सुखी न रह सकेंगे। तो सम्पूजक यह भावना करता है कि चोरी मत होवो। क्षणभर भी, रंचमात्र भी मत हों। चोरी में आता है हराम का माल, ऐसा लोग कहते ही हैं। तो वह चोरी किया हुआ माल भी वे दूसरों को ही लुटा देते है, वे खुद उसका उपभोग नहीं कर सकते। न्याय से की गई कमाई का वे उपभोग भी करते हैं और शांत भी रहते हैं।

(१६५)चोरी से चोरों की विपत्ति का एक दृष्टांत—एक कथानक है कि चार चोर चोरी करने गए और दो लाख का माल लूटकर लाये। अब सुबह होने से दो घंटे पहिले किसी नगर के समीप जंगल में वे ठहर गए ओर बांटने लगे धन। तो कहा-अभी जल्दी क्या पड़ी है? पहिले मिठाई मांगकर अच्छी तरह से खाया पिया जाय बाद में धन बाँट लेंगे। सो उनमें से दो चोर तो चले गए मिठाई लेने और दो चोर धन की रखवाली में रहे। मिठाई लेने जाने वाले दो चोरों के मन में यह पाप आ गया कि अपन दोनों मिठाई में जहर मिलाकर ले चले, वे दोनों उस विष भरी मिठाई को खाकर मर जायेंगे और हम तुम दोनों एक एक लाख का माल बाँट लेंगे। इधर धन की रखवाली करने वाले चोरों के मन में पाप आया कि अपन दोनों बन्दूक तानकर बैठ जायें और उन दोनों को गोली से शूटकर दें। वे दोनों मर जायेंगे तो अपन दोनों एक-एक लाख का धन बाँट लेंगे। सो दो चोर तो लाये विष भरी मिठाई और दो चोरों ने उन दोनों को आते ही गोली से शूटकर दिया । वे दोनों तो मर गए। अब वे दोनों जीवित चोर सोचने लगे कि पहिले अपन लोग इस आयी हुई मिठाई को अच्छी तरह खालें, बाद में धन बाँटेंगे। उन दोनों चोरों ने वह मिठाई खाली तो वे भी मर गए। सारा धन जैसा का तैसा पड़ा रह गया । तो ये जो अन्याय की बातें हैं, चोरी डकैती आदि की बातें हैं उनमें न वे चोर डकैत ही सुखी शांत रह पाते हैं और न समाज के लोग। तो यह भावना करता है कि हे प्रभो! चोरी कहीं न होवे।

(१६६)पूजक की पर के प्रति सातवीं व अंतिम भावना—सातवीं भावना में पूजक कहता है कि महामारी रोग क्षणभर को भी न हो। ये जो हैजा, प्लेग, चेचक आदिक बीमारियाँ हैं ये महामारी रोग ही तो हैं। इनके फैलने से समाज में क्षोभ मच जाता है, सर्वत्र अशांति फैल जाती है। तो पूजक कहता है कि हे भगवान् ! यह महामारी रोग कहीं न होवे। अन्तिम भावना में पूजक कहता है के सबको सुख देने वाला जैनेन्द्र धर्मचक्र निरंतर प्रभावशाली रहे। वस्तुस्वरूप का जहाँ सम्यक् प्रतिपादन है, प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, किसी का किसी अन्य से सम्बंध नहीं है। सब पदार्थ परिपूर्ण हैं, उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाले हैं, इस प्रकार के वस्तु स्वातंत्र्य का जिस धर्म में, मार्ग में, शासन में ज्ञान हो, जिसके प्रताप से संसार के सारे संकट टल जाते हैं, ऐसा यह जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा गया, उस परम्परा से आया हुआ, वस्तुस्वरूप का बताने वाला यह धर्मचक्र अर्थात यह ज्ञानप्रकाश जो सब जीवों को सुख देने वाला है, निरंतर प्रभावशाली बने।

श्लोक 16

तद्व्यमव्ययमुदेतु शुभः सदेशः

संतन्पतां प्रतपतां सततं स कालः।

भावः स नन्दतु सदा यदनुग्रहेण

रत्नत्रयं प्रतपतीह मुमुक्षुवर्गे।।१६।।

(१६७) शांति का एकमात्र उपाय अपने आपमें आपकी मग्नता—शांति का लाभ रत्नत्रय धर्म से ही प्राप्त होता है। परद्रव्यों से भिन्न ज्ञानानंदमात्र निज सहज स्वरूप में यह मैं हूँ इस प्रकार की प्रतीति होना और अन्य पदार्थो के जानने की आकांक्षा त्याग कर एक इस निज सहज ज्ञानस्वरूप का ध्यान करना और इस ही सहज ज्ञानानंद स्वरूप में उपयोग को रमाये रहना यह रत्नत्रय ही शांति का कारण है। इस धर्म को न करके बहुत-बहुत कार्य इस जीव ने किये और शांति न मिली। जैसे कोई समुद्र लहरा रहा है, तरंगो से क्षुब्ध हो रहा है तो वहाँ कोई कहे कि इसकी शांति हो तो इसके मायने क्या है कि वह अपने आपमें पूर्ण रूप से समाया रहे, ऊपर उछले-फुदके नहीं। यही तो समुद्र का शांत होना कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा का शांत होना क्या कहलायेगा कि आत्मा अपने आप में समाया रहे, अपने से बाहर उचके फुदके नहीं। तब आप सोचिये कि यह बात किस प्रताप से मिल सकती है? आत्मा अपने आपमें समाया हे यह बात किस उपाय से मिल सकती है? अपने से बाहर किसी भी तत्त्व की ओर दृष्टि लगाये रहे और ऐसा करें कोई कि यह अपने में समा जाय तो नहीं समा सकता । इसका कारण यह है कि यह अब अपने से

हटकर बाहर की ओर दृष्टि लगाये हुए है, उसको यह शांति पाने का तरीका नहीं प्राप्त है।

(१६८)बाह्योपयोग में भी शुभ अशुभ का विवेक –अब रहा यह कि बाहर तो कुछ अच्छी भी चीजें हैं। कुछ बुरी भी चीजें है। बाहर में तो मूढ़ मिथ्यादृष्टिजन भी हैं, ज्ञानीजन भी हैं ओर परमात्मा भी है। तो क्या बाहर दृष्टि लगानें से आत्मा अपने आपमें न समा सके यह बात पूर्ण नियम की बन सकती है? इसके सम्बंध में भी सुनो । जो पदार्थ इन्द्रिय के विषयरूप है—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द और मन का विषय है प्रतिष्ठा, लोगों की ओर दृष्टि, इनकी ओर दृष्टि रहे, उपयोग रहे तो इसके अपने आपमें समाये जाने की कोई आशा ही नहीं है। ज्ञानी सज्जन पुरूषों का संग रहे। उस सत्संग में जो शिक्षा, उत्साह, प्रेरणा आदिक प्राप्त होते है वे यद्यपि तत्काल तो बाह्य दृष्टिरूप है, बाहर की ओर से चिन्तन है, लेकिन वह है धर्म का लक्ष्य बनाये, रखकर चिन्तन। इस कारण उस शुभोपयोग में पात्रता रहती है कि जब कोई इस शुभोपयोग को त्याग कर अपने आपमें समाना चाहे तो समा जायगा। अशुभपयोग में यह पात्रता नहीं हैं कि अशुभपयोग को छोड़कर तुरंत अपने आप में समा सके। खूब सोच लीजिए। आत्मा है सहज ज्ञानानन्द स्वरूप और उसमें निर्विकल्प रूप से समाने की जब परिणति होगी उससे पहिले इसका चिन्तन तो चलेगा वह है शुभोपयोग । तो खोटे उपयोग के बाद ब्रह्म में समा जाने की बात कभी नहीं हो सकती और शुभोपयोग के बाद में उसी शुभ उपयोग को छोड़कर ब्रह्मस्वरूप में समा जाने की बात बन सकती है।

(१६९) शुभोपयोग में परमात्मभक्ति की प्रधानता –अब इस शुभोपयोग में परमात्मा की भक्ति भी आ गयी । जो राग-द्वेष रहित समस्त लोकालोक का जाननहार विशुद्ध आत्मा है परम आत्मा है उसे परमात्मा कहते है। उसके निर्विकार ज्ञानस्वरूप का चिन्तन यद्यपि इस समय शुभोपयोग है, क्योंकि द्वैत भाव से चिन्तन कर रहा है, 'मैं' और परमात्मा यों द्वैत भाव से परमात्मा की भक्ति की जा रही है, ये अलग-अलग दो उसकी दृष्टि में हैं। जब तक द्वैत की बुद्धि है तब तक शुभोपयोग है और जब प्रभु का वह एक ज्ञान ज्योति मात्र उपयोग रहित अंतस्तत्व की दृष्टि करते-करते मात्र अंतस्तत्व रह जाय, बाहर जिसे समझ रहा था वह बुद्धि न रहे तो व्यक्तिपना छूट जाने से वह अंतस्तत्व की अनुभूति में आ जाता है। कोई पुरूष इस आत्मा में समाये जाने का दृढ़ अभ्यास करने वाला बाहर में परमात्मा को न निरखकर भी एकदम सीधे साक्षात् आत्मा में समाने की बात कर सकता है। अपने से बाहर प्रभु को निरखना इसमें द्विविधा हो गयी, द्वैत हो गया, अलग-अलग चीजें हो गयी, तब यह समाये हुए की स्थिति नहीं है, मगर यह ऐसी शुभ स्थिति है कि समा सकता है अपने में।

(१७०) प्रभुभक्ति के प्रसंग में योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के योग का दर्शन—अब प्रभुभक्ति जैसे प्रसंगों से यह समझ लीजिए कि इस अलौकिक कार्य के करने के लिए योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आये। प्रभुभक्ति और उसमें प्रभु को निरखा, वह योग्य द्रव्य का ही तो आश्रय किया गया। एकान्त में, वन में, मंदिर में, सत्संग में किसी भी क्षेत्र में हों एक सी प्रेरणा अनुरोध, विशुद्धि और धुन जगे कि हम उस अद्वैत अंतस्तत्व के दर्शन कर सकें। योग्य समय- अंतरंग में तो अपना योग्य परिणमन वह समय है । बहिरंग में योग्य परिणमन योग्य काल। जिस काल में बाधायें, विघ्न, उपद्रव, हल्ला, विपरीतता, प्रतिकूलता आदि ये बातें न हों तो वह योग्य काल है। वह भी शांति का सहायक है, और योग्य भाव- अपने आप में उत्पन्न हुए भावों से एक सिलसिला चलता है। जैसे कोई बिल्कुल समान जगह है और वहाँ थोड़ा पानी डाल दिया और वह जल राशि कुछ मोटी हो गई व पानी छिड़ गया। अब वहाँ जिस और का हम मार्ग बनाते हैं एक अंगुलि से या किसी सींक से तो पानी उस और को ढलने लगता है। और जिस और ढला, जितना बना ढल जाता है। तो क्या हुआ वहाँ सिलसिला बन गया। हमारे भावों में जब कोई खोटे विकार की उत्पत्ति हुई उस उत्पत्ति से उतना बुरा नहीं जितना कि उस खोटे विचार का सिलसिला बनता है और उस और तीव्र रूचि बनती है, धुन लगती है तो उससे वह खोटी ओर बह जाता है। जब कभी कुछ सत्संग में आकर स्वाध्याय , तत्वचर्चा , चिन्तवन आदिक से कुछ भाव जगे अपने आपके सहजस्वरूप की अनुभूति करने के लिए , तो थोड़ा वह जगा भाव वह भी भला है, मगर उससे भला अधिक यह होता है कि भाव का कुछ सिलसिला भी लग जाय तो उस सिलसिले में वह अपने आपमें ऐसा मार्ग पा लेता है कि बड़े उत्साह के साथ, लगन के साथ एक उस अंतस्तत्व में ही उपयुक्त हो जाता है उससे फिर उस सहज परमात्मतत्व का अनुभव होता है, जिस अनुभव होता है , जिस अनुभव के प्रसाद से ये संसार के सारे संकट टल जाते हैं। बाह्य पदार्थो में और प्रधानतया इन्द्रिय के विषयों में रूचि जगना, उसका सिलसिला बनाना यह जीव पर बहुत बड़ी विपदा है ।यह मोही उस वातावरण में रहकर अपने को सुखी मानता है। सुखी होने की परिकल्पना करता है, लेकिन विपदा तो यही है। ज्ञानानुभूति ही एक वास्तविक सम्पदा है और शरण है। यह अपने आपके स्वयं की चीज है। अपने आपके द्वारा प्राप्त की जा सकती है। उस ज्ञानानुभूति के सिलसिले में जो आयगा उस पुरूष को फिर कोई विपदा नहीं रहती है।

(१७१)रत्नत्रय प्रतपन समर्थ योग्य द्रव्य के योग की उत्सुकता—वास्तविक शांति का इच्छुक यह भक्त अभ्यर्थना करता है कि वह द्रव्य मेरे में उदित हो जो कि अव्यय है, जिसका कभी विनाश नहीं होता। मेरा द्रव्य गुण पर्यायवान सहज चैतन्यशक्ति स्वरूप, सहज परमात्म तत्त्व और उसकी साधना में सहायक, स्पष्ट,

व्यक्त परमात्मतत्त्व मेरे उपयोग में उदित होवो। जैसे कि लोग अपने ज्ञान में कुछ न कुछ बसाये रहते है और जिनकी जिसमें रूचि होती है वे उसको निरन्तर चिरन्तन बसाये रहते है। हे प्रभो ! मेरे उपयोग में आपका वह शुद्ध ज्ञानज्योति स्वरूप ही बसो। मेरे उपयोग में मेरा ही सहज ज्ञानानंदस्वरूप है जो कि सहज अस्तित्व से मेरा स्वरूप है वह मुझमें बसो। अविनाशी चित्स्वरूपमात्र यह द्रव्य उदय को प्राप्त होवो। शांति इस ही उपाय से प्राप्त होगी एक ही निर्णय है, दूसरी बात कोई विकल्प में है ही नहीं कि चाहे इस तरह शांति कर लो या इस तरह। जैसे कि लोग कल्पना करते है कि अजी थियेटर के टिकट न मिले, देखने को न मिला तो चलो सिनेमा देखकर शांति प्राप्त कर लें। तो शांति मिलने के अनेक ढंग नहीं हैं, शांति का उपाय तो केवल एक ही है। अपने उपयोग में सहज ब्रह्मस्वरूप को लेना। तो प्रभो ! ऐसा अविनाशी यह द्रव्यस्वरूप मुझमें उत्पन्न होवो।

(१७२) रत्नत्रय प्रतपन योग्य देश व काल की अभ्यर्थना—वह शुभ देश मेरे को प्राप्त हो जहाँ धर्मात्माओं का भी संग मिलता रहे। जहाँ अन्याय पाप हिंसा आदिक न होते हों, ऐसा विशुद्ध वातावरण वाला देश मुझको प्राप्त हो। इससे विशुद्ध देश में कैसे भी ठाट-बाट में मुझे रहने को मिले वह इस अनादि अनंत काल के समक्ष कुछ १०-२० वर्ष के समय के लिए क्या चीज मिली ? मुझे वह देश प्राप्त हो जहाँ अपना ज्ञान अपने आपके ठिकाने आता रहे, ऐसी प्रेरणा मिलती रहे। मेरा समय निरंतर ऐसा प्रताप वाला बने कि जिस समय में ये मेरे रत्नत्रय प्रभावशाली बनें। ऐसा मेरे परिणमन का सिलसिला बने कि जिससे रत्नत्रय का लाभ हो और मेरा प्रताप बढ़ता रहे। जैसे लोग धन की वृद्धि निरखकर अब ये ५०हजार हो गए, उसके कमाने में उत्साह रखते हैं, उसको निरखकर खुश होते हैं इस तरह मैं अपने आपको निरखकर देखूँ, मेरा ज्ञानभाव, मेरा उपयोग ऐसा निर्विकार निर्मल बने कि देखो यह अपने स्वरूप को छूने चला। अब उसने छू भी लिया, यह टिका रहे, यों अपने आपके रत्नत्रय के विकास के लिए उत्साह जगह ऐसा मेरे परिणमन का सिलसिला बनो।

(१७३)रत्नत्रय प्रतपन योग्य भाव की अर्चना—हे प्रभो! मेरा ऐसा भाव बने कि जिसके अनुग्रह से मेरा रत्नत्रय प्रतापशाली बने। स्नेह भरा, द्वेष भरा, मोह भरा विषय सम्बंध, ये किसी भी प्रकार के भाव मुझमें मत उत्पन्न हों। जब किसी भी प्रकार के रागद्वेष की बात मन में आती है तो उसके बाद वह उसको बढ़ाता है, उसके अनुसार उसका कार्य करने की आकांक्षा करता है और उसमें अपना भला मानता है, किंतु ये सब ऐसी कठिन विपदायें हैं कि जिन विपदाओं से फिर हटना नहीं होता, वे विपदायें बढ़ती ही

रहती हैं। विपदाओं से हटना तो वीतराग भाव और ज्ञानभाव से ही होगा तो मेरे में ऐसा भाव प्रकट हो कि जिससे रत्नत्रय का प्रताप बढ़े । मेरे में का मतलब मुझमें और समस्त मुमुक्षु वर्ग में ऐसे योग्य देश, योग्यक्षेत्र, योग्य काल, योग्य भाव, और योग्य द्रव्य ये विस्तार को प्राप्त हो , उपयोग में बसो, इनका लाभ हो, जिससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि हो।

(१७४)आत्मशासन में रत्नत्रय का योग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये शब्द यद्यपि जैनशासन में पाये जाते हैं, लेकिन इनका सीधा अर्थ देखो तो ये आत्मशासन में पाये गए यों समझिये । आत्मशासन का ही नाम जैनशासन है। रागद्वेष को जिन्होंने जीत लिया, उन्होंने जो रागद्वेष को जीतने का उपाय बताया है वह क्या किसी दूसरे का शासन है ? वह तो आत्मा का शासन है। सम्यग्दर्शन-सम्यक् मायने भली प्रकार, दर्शन करना, सम्यक् द्वारा दर्शन करना, सम्यक् के लिए दर्शन करना अर्थात् जो समीचीन भाव है, आत्मा का निर्विकार शुद्ध चैतन्य ज्योतिर्मय, उसका दर्शन करना, अनुभव करना और भले के लिए अनुभव करना । इससे भला ही भला है, और ऐसे भले में ही दर्शन होना इसका नाम है सम्यग्दर्शन। यह तो आत्मा की चीज है जिस आत्मा को शांत होने की भावना हो उसको यही करना पड़ेगा। समस्त बाह्य आलम्बन त्यागकर केवल आत्मा के सहज स्वरूप के अवलम्बन की ही बात है तो इसमें वे सब लगाव मिट गए। जाति का, कुल का, मजहब का, परम्परा का, कुल धर्म का ये सब उसके मिट गए। केवल उसका आत्मा का ही नाता रहा। कितना निष्पक्ष शांति का मार्ग है और सुगम है, स्वाधीन है, क्योंकि उसका एक अपने ही अंतस्तत्व से सम्बंध है।

(१७५) शांति के अर्थ योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के योग कीअभ्यर्थना—शान्तिभक्ति के इस उपान्त्य छंद में यह भावना की है कि हे प्रभो ! हे शांति जिनेन्द्र, हे ज्ञान ज्योतिपुंज, हे अविकार चित्स्वरूप ! शान्ति के अर्थ ऐसा अविनाशी द्रव्य उदित होवे, ऐसा देश विस्तृत होवो, अर्थात् जिस देश में रहना और विहार होवे, केवल १०-५ हाथ की जगह शुद्ध मिले ऐसी भावना नहीं है, किंतु योजनों प्रमाण क्षेत्र जहाँ ऐसा हो कि शांति का वातावरण हो वहाँ मैं किसी जगह रहता रहा होऊँ , इसी भाव को लेकर कह रहे हैं कि वह देश लम्बा-चौड़ा बने जहाँ रहकर मुमुक्षु वर्ग में, आत्म हितैषियों में रत्नत्रय का प्रताप बढ़े, ऐसा काल प्राप्त हो, समय प्राप्त हो, खुद के परिणमन का सिथला भाव भी एक सा उदित हो जिससे आत्मा का विश्वास, आत्मा का ज्ञान और आत्मा में निर्विकल्प होकर रमण, इनकी सिद्धि हो।

श्लोक 17

प्रध्वस्तघातिकर्माण: केवलज्ञानभास्करा:।

कुर्वन्तु जगतां शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वरा: ।।१७।।

(१७६) परमात्म स्वरूप के स्मरण में शांतिलाभ की शक्यता—परमात्माओं में ऐसा भेद नहीं है कि मैं अमुक नाम के भगवान की उपासना करुंगा तो दु:ख दूर होंगे, अमुक भगवान की उपासना करुंगा तो शांति प्राप्त होगी। अरे परमात्म स्वरूप तो एक ही रूप है। शुद्ध उपयोग है, ज्ञानपुंज है, इसके ध्यान से विघ्न दूर होते है । शांति का लाभ होता है, पर उपासना के मार्ग में चूंकि अद्वैत उपासना में समग्र बीत नहीं पाता तो द्वैत उपासना करना होती है, अर्थात भगवान का नाम से लेकर उपासना करते है। भगवान का यद्यपि नाम नहीं होता, जो नाम है वह भगवान नहीं, जो भगवान है उसका नाम नहीं, लेकिन जिस नाम वाले महापुरूष ने रागद्वेष को जीतकर, कर्मों पर विजय प्राप्त कर अपने आपमें वीतरागता और सर्वज्ञता का अभ्युदय पाया है, उस पूर्व के नाम को लेकर व्यवहार में कहा जाता है। तो इस प्रसंग में शांतिनाथ जिनेन्द्र के नाम से स्तवन चल रहा था लेकिन शांतिनाथ जिनेन्द्र ही शांति के कर्ता हैं, ऐसा नियम नहीं, किंतु सभी परमात्म स्वरूप के स्मरण शांति के कर्ता हैं। इस कारण इस छंद में वृषभादिक समस्त जिनेश्वरों का स्मरण किया गया है। ऋषभदेव इस कर्म भूमि के आदि में हुए थे। इसका भाव सभी मजहब वाले किसी न किसी रूप में लेते ही हैं, लिए बिना उनकी पूर्ति नहीं बनती। कोई ब्रह्मा के रूप में स्मरण करते हैं, कोई कैलाशपति के रूप में स्मरण करते हैं, कोई एक सीधा ही ऋषभ का अवतार मानकर स्मरण करते हैं। कोई आदिम बाबा कहकर स्मरण करते हैं। प्रयोजन यह है कि जब भोग भूमि मिटकर कर्म भूमि लगी थी, उस समय जो प्रजा के लिए आधारभूत थे ऐसे ऋषभदेव उस युग में प्रथम तीर्थंकर हुए, जिनका समय आज से लाख करोड़ वर्ष नहीं, बल्कि अनगिनते वर्ष हो गए। उनसे आदि लेकर महावीर पर्यन्त चतुर्विंशति जिनेश्वर समस्त जगत को शांति प्रदान करें।

(१७७) वृषभादिक जिनेश्वरों से तीनों लोकों की शांति की अभ्यर्थना –जिन्होंने घातिया कर्मो को नष्ट कर दिया है वे जिनेश्वर तीनों लोकों को शान्ति प्रदान करें। इस जीव के साथ आठ प्रकार के कर्म लगे हुए हैं- ज्ञानावरण-जो ज्ञान को प्रकट न होने दे-सो देख लीजिए , है ना , यह हालत आज? दर्शनावरण –जो दर्शनगुण को प्रकट न होने दे। वेदनीय-जो साता और असाता के अनुभव का कारण बने। मोहनीय-जो

विपरीत श्रद्धा, बेहोशी लाने का कारण हो। आयुकर्म-जिसके उदय से जीव को शरीर में रुका रहना पड़े। नामकर्म-जिसके उदय से एक भव छोड़कर दूसरे भव में आये हुए जीव के शरीर की स रचनायें बनती फिरें, जिसके उदय से रचनायें चलती रहें। गोत्रकर्म- जिसके उदय से जीव उच्च नीच कुल वाला कहलाये। और अंतराय-जिसके उदय से इस जीव को विघ्न आया करें। इन आठ कर्मों में से घातिया कर्म चार हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। इनका जो ध्वंस करते हैं वे अरहंत जिनेन्द्र हैं। केवल – ज्ञानसूर्य जिनके प्रकट हुआ है ऐसा निर्मल परिपूर्ण ज्ञान, जिस ज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ एक साथ जान रहे हैं। ज्ञान का काम है जब स्वच्छता होती है तो ऐसा ही परिपूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, वे उससे कुछ अपना स्वार्थ नहीं साध सकते, क्योंकि उनके रागद्वेष ही नहीं रहा। तो यों केवलज्ञान से जिसने समस्त लोकालोक के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थो को स्पष्ट जाना है, ऐसे वृषभ को आदि लेकर महावीर पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकर समस्त जीवों को शांति प्रदान करें। परमात्मा के स्मरण के काल में मुख्य लक्ष्य निर्विकार सहज स्वरूप की ही उपासना है, ऐसा अपना निर्णय करे। भक्ति करें निर्विकार ज्ञानस्वरूप की। धन्य है वह ज्ञान जो कि निर्विघ्न है और शांति का कारण है। समस्त जीवों को प्रभुस्वरूप का स्मरण रहे, ज्ञान की उपासना रहे, जिससे कि वे सभी जीव शांतिलाभ प्राप्त करें।

(१७८) शान्तिभक्ति कीअंचलिका—इच्छामि भंते शांतिभक्ति का उस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं पंचमहाकल्लाण समण्णाणं अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं चउतीसातिसयविसेसजुत्ताणं वत्तीसदेविन्दमणिसयमउडमत्थयमहियाणं थुइसयसहस्सणिम्मलाणं उसहाइवीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालं अच्चेमि पूजेमि वंदामि णमस्सामि दुक्खक्खओ कमक्खओ वोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवन् ! मैंने जो शांति भक्ति का कायोत्सर्ग किया उसकी आलोचना करने के लिये मैं इच्छा करता हूँ। मैं पंच महाकल्याणों से सम्पन्न , आठ महाप्रातिहार्यो से सहित, चौंतीस अतिशय विशेषों से युक्त, बत्तीस देवेंद्रों के मणिमय मुकुट वाले मस्तक से पूजित, लाखों स्तवनों के निलय ऐसे वृषभ को आदि लेकर महावीर पर्यंत मंगलमय महापुरूषों को नित्य काल अर्चता हूँ, पूजता हूँ, वन्दता हूँ, नमस्कार करता हूँ। हे प्रभो ! मेरे दु:खों का क्षय हो, कर्मो का क्षय हो, बोधि (रत्नत्रय) का लाभ हो, सुगति गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र गुणसम्पत्ति प्राप्त हो।

इस शान्तिभक्ति में प्रथम कायोत्सर्ग किया था और काय से ममत्व त्यागने रूप कायोत्सर्ग करने के लिये ही भक्ति पाठ किया है। सो उस प्रसंग में जो दोष लगे हैं उसकी आलोचना करने के लिये यह अंचलिका पढ़ी

गई है।

।।शान्तिभक्ति प्रवचन समाप्त।।